# विवेक-ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर

वर्ष ५
अंक ३

"मध्यप्रदेश शिक्षा विभाग के आदेश क्रमांक स । विधा । टा । ५६४
दिनांक ४ मार्च १९६४ द्वारा स्वीकृत"

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द - भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई - सितम्बर १९६७

प्रधान सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

सह - सम्पादक एवं व्यवस्थापक

सन्तोषकुमार झा

विवेकानन्द आश्रम,

रायपुर ( मध्य प्रदेश )

फोन नं० १०४६

# विवेक ज्योति नियमावली

वार्षिक चन्दा { भारत में — ४) एक अंक का १)
विदेशों में – २डालर या १० शिलिंग

## ग्राहकों के लिये—

१. 'विवेक-ज्योति' जनवरी, अप्रैल, जुलाई और अक्तूबर महीने में प्रकाशित होती है। इसका वार्षिक चन्दा मनीआर्डर से भेजना चाहिये। पिछली प्रतियाँ बाकी रहने पर ही भेजी जा सकती हैं।

२. ग्राहकों को पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या, नाम और पता स्पष्ट अक्षरों में लिखना चाहिए।

३. यदि कोई अंक न मिले, तो डाकखाने में पहले पूछताछ करनी चाहिये। जिस अवधि का अंक न मिला हो उसी अवधि में सूचना प्राप्त होने पर, अंक की प्रति बची रहने पर ही भेजी जायगी।

४. यदि पता बदल गया हो, तो उसकी सूचना तुरन्त दी जानी चाहिए।

## लेखकों के लिये—

१. 'विवेक-ज्योति' में आध्यात्मिक, धार्मिक, सांस्कृतिक लेख तो रहेंगे ही, पर शिक्षा, मनोविज्ञान, कला, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान प्रभृति महत्वपूर्ण विषयों पर जीवन के उच्चतर मूल्य सम्बन्धी लेख भी उसमें प्रकाशित किए जायेंगे। उसी प्रकार उच्च भावों की प्रेरणा देने वाले ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चरित्रों के लिए भी इस त्रैमासिक में स्थान रहेगा। सुसंस्कृति अभिरुचिपूर्ण कविता, विशिष्ट दृष्टिकोण से लिखे

गये यात्रा-प्रसंग तथा पुस्तकों की समीक्षा को भी इसमें स्थान प्राप्त होगा।

२. किसी प्रकार की व्यक्तिगत या विघातक टीका के लिए 'विवेक-ज्योति' में स्थान न रहेगा।

३. लेख में प्रतिपादित मत के लिए लेखक ही जिम्मेदार रहेगा।

४. लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकृत करने पर उसकी सूचना एक माह के भीतर दी जायगी। अस्वीकृत रचना आवश्यक टिकट प्राप्त होने पर ही वापस की जायेंगी।

५. यदि लेख एक अनुवाद हो तो लेखक को साथ में यह भी सूचना देनी चाहिए कि अनुवाद की आवश्यक अनुमति ले ली गयी है।

६. कागज के एक ही ओर सुवाच्य अक्षरों से लिखे जायँ।

७. लेख संबंधी पत्र-व्यवहार सम्पादक से करना चाहिए।

— व्यवस्थापक

---

# अनुक्रमणिका

| | विषय | पृष्ठ |
|---|---|---|
| १ | आत्मघाती कौन ? | ३०५ |
| २ | डैम-डैम ! ( श्रीरामकृष्ण के चुटकुले ) | ३०६ |
| ३ | एकाग्रता ( साधना कक्ष ) | ३०७ |
| ४ | महेन्द्रनाथ गुप्त ( श्रीरामकृष्ण-भक्त-गाथा ) | ३१४ |
| ५ | अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द | ३३८ |
| ६ | मानव बाटिका के सुरभित पुष्प | ३५० |
| ७ | ब्रह्मज्ञानी रैक्व ( उपनिषद् मंदाकिनी ) | ३६० |
| ८ | शुभ-अशुभ कर्म | ३६ |
| ९ | संत फांसिस | ३७ |
| १० | सनातन धर्म | ३८ |
| ११ | महारानी दमयंती | ४०५ |
| १२ | भारतीय संस्कृति | ४२१ |
| १३ | अथातो-धर्मजिज्ञासा | ४३० |
| १४ | आश्रम समाचार | ४३२ |

कव्हर चित्र परिचय

स्वामी विवेकानन्द, ( अमेरिका में, अक्तूबर १८९३ )

" न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते "

# विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से प्रभावित
हिन्दी-त्रैमासिक

वर्ष ५ ] जुलाई-अगस्त-सितम्बर [ अंक ३

वार्षिक शुल्क ४) १९६७ एक प्रति का १)

## आत्मघाती कौन ?

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम् ।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥

—किसी प्रकार इस दुर्लभ मनुष्य-जन्म को पाकर और उसमें भी, जिसमें श्रुति के सिद्धान्त का ज्ञान होता है ऐसा पुरुषत्व पाकर जो मूढ़बुद्धि अपने आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है; वह असत् में आस्था रखने के कारण अपने को नष्ट कर लेता है ।

—'विवेक चूड़ामणि', ४ ।

# डैम-डैम !

किसी शहर में एक नाई रहता था। एक दिन वह किसी 'साहब आदमी' की दाढ़ी बना रहा था। अचानक छुरे से साहब की गाल कुछ कट गयी। गुस्से से ओठ मींचकर वह चिल्ला उठा—'डैम'! नाई इस अँग्रेजी शब्द का अर्थ नहीं जानता था। उसने हाथ का छुरा और दाढ़ी का अन्य सामान एक ओर रख दिया और कुरते की आस्तीन ऊपर चढ़ाता हुआ बोला, "तुमने मुझे 'डैम' कहा। अब तुम यह बताओ कि उस शब्द का मतलब क्या है ?" साहब नाई का रुख भाँपकर भीतर ही भीतर काँप उठे। उन्होंने प्रत्यक्ष में नाई से कहा, "मूर्खता न करो। अपना काम करो। उस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं होता। हाँ, जरा सावधानी से हजामत बनाओ।"

परन्तु नाई इतनी जल्दी छोड़ने वाला नहीं था। वह शब्द का अर्थ जानने का बारम्बार आग्रह करता रहा अन्त में उसने साहब को सम्बोधित करके कहा, "देखो, यदि 'डैम' का अर्थ अच्छा है तो मैं डैम, मेरा बाप डैम, मेरे सारे पुरखे डैम। और अगर उसका अर्थ बुरा है तो तुम डैम, तुम्हारा पिता डैम, तुम्हारे सारे पुरखे डैम। और सिर्फ डैम ही नहीं, वे सारे के सारे 'डैम-डैम-डैम डै-डैम-डैम' !"

उजड्डों के बीच ऐसे शब्दों के प्रयोग में सावधानी बरतनी चाहिए जिनका अर्थ वे नहीं समझते।

———

# एकाग्रता

स्वामी प्रभवानन्दजी महाराज, अमेरिका

( १ )

भारतीय मनोवैज्ञानिक मन को चार श्रेणियों में बाँटते हैं। एक है 'क्षिप्त'। क्षिप्त का शाब्दिक अर्थ होता है 'पागल', पर यहाँ उसका तात्पर्य ऐसे मन से है जो बिखरा हुआ और चंचल है। स्वामी विवेकानन्द ऐसे मन की उपमा एक डाल से दूसरी डाल पर कूदनेवाले बन्दर से देते थे। इतना ही नहीं, कल्पना करें कि वह बन्दर शराब पीकर मदहोश हो गया है और उसके ऊपर उसे बिच्छू ने डंक मार दिया है! सोचें कि वह बन्दर कैसा बरताव करेगा। 'क्षिप्त' मन बस उसी प्रकार है—भयानक रूप से भटकनेवाला और चंचल।

मन की दूसरी श्रेणी को 'मूढ़' कहते हैं। इसका शाब्दिक अर्थ है 'मोहित'। जिनका ऐसा मन होता है वे बस चुपचाप बैठे रहते हैं और दिवास्वप्न देखते रहते हैं। इनमें कोई उत्साह नहीं होता, कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। किसी चीज को समझने की इच्छा भी इनमें नहीं होती। उनके लिए सब कुछ अस्पष्ट है, जड़ता और आलस्य है।

मन की तीसरी श्रेणी 'विक्षिप्त' कहलाती है। ऐसा मन अधिकांश समय बिखरा हुआ होता है पर कभी कभी वह एकाग्र भी हो जाता है।

मन की सबसे ऊँची और चौथी श्रेणी है 'एकाग्र'। ऐसा मन जहाँ भी लगाया जाता है, वह जो भी बात अपने हाथ में लेता है, उसकी पूरी शक्ति उसको पूरा करने में लग जाती है। ऐसा एकाग्र मन विरलों को ही प्राप्त होता है।

सामान्य मन में हम उपर्युक्त प्रथम तीन श्रेणियों को ही एक के बाद एक आते देखते हैं। कभी हम चंचल होते हैं-बिच्छू के डंक से पीड़ित, शराब पिये हुए उस बन्दर के समान; तो कभी हम दिवास्वप्न देखने लगते हैं; हम जड़ता और भ्रम से घिर जाते हैं। उस समय यदि कोई हमें कुछ समझाने का प्रयत्न करता है तो वह हमारे मस्तिष्क में नहीं घुसता। हम उसकी बात समझ नहीं पाते। अधिकांश समय हमारा मन बिखरा होता है, पर कभी कभी वह थोड़ा एकाग्र भी हो जाता है। यह मिली-जुली दशा एक सामान्य मनुष्य का चित्रण उपस्थित करती है।

मैं कह चुका हूँ कि एकाग्र मन बड़ा बिरला होता है। परन्तु अध्ययन और अभ्यास के द्वारा मन की एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है। हममें से प्रत्येक में असीम प्रकाश है पर उसकी किरणें सभी जगह बिखर गई हैं। अभ्यास के द्वारा इन किरणों को समेटा जा सकता है और इच्छित

वस्तु पर केन्द्रित किया जा सकता है। जब हम ऐसा करने में समर्थ होते हैं तभी जीवन के किसी क्षेत्र में हमें सफलता मिल सकती है।

उदाहरणार्थ, एक सर्जन को लो जो आपरेशन करने जा रहा है। यदि उसका मन बिखरा हुआ है तो वह रोगी के लिये बड़े खतरे की बात है। डाक्टर के मन को एकाग्र होना चाहिए। वकील, डाक्टर, व्यापारी, राजनीतिज्ञ, गृहणी, रसोइया, अध्ययनरत छात्र — जिस किसी भी क्षेत्र को क्यों न लिया जाये, यदि सचमुच में कुछ सफलता हासिल करनी है तो हमें मन की यह एकाग्रता चाहिए। कुछ लोग जीवन में सफल होते हैं और कुछ लोग नहीं। अंतर किस बात में है? क्या परिस्थितियों में? अथवा आसपास के लोगों में? या उनके अपने अपने भाग्य में? नहीं। अन्तर तो उनकी एकाग्रता की मात्रा में पड़ता है। जिसमें पर्याप्त एकाग्रता नहीं वह असफल हो जाता है। और जो अपने भीतर की शक्ति को समेट कर अभीप्सित कार्य में उसे लगा सकता है वह सफल होता है।

( २ )

हम एकाग्रता कैसे प्राप्त करें? एकाग्रता की प्रेरणा हमें कहाँ से मिलती है? किसी बात में अपनी रुचि से। जिस किसी में तुम्हारी खरी रुचि है उस पर तुम सहज ही मन को लगा सकते हो। क्या तुमने यह देखा नहीं कि यदि तुम्हारी अभिरुचि न हो तो सरल सा काम भी

बड़ा जटिल मालूम पड़ता है ? अनुभव किया होगा कि किसी किसी दिन बिना उँगली को चोट पहुँचाये तुम एक खीला भी नहीं गड़ा सकते हो। कभी कभी झाड़ पोंछ करते समय सारी चीजें लुढ़का डालते हो। जब तुम्हें कार्य में कोई रुचि नहीं होती तो स्वाभाविक ही मन उखड़ा उखड़ा होता है।

हम किसमें रुचि रखते हैं ? मानव की सामान्य अभिरुचि किसमें है ? लोगों की सामान्य प्रेरणा कहाँ से आती है ? आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहेगा — और मैं ऊपरी तौर पर उससे सहमत हूँ — कि मानवजाति की दो प्रमुख अभिरुचियाँ यौन-सुख और महत्त्वाकांक्षा में निहित हैं। ऐन्द्रिक सुखों में यौनकामना की पूर्ति सबसे सूक्ष्म और तीव्रतम सुख माना गया है। उसका एक नाम 'आनन्द' भी है। सारा संसार यौन-भावना में ही केन्द्रित है। श्रीरामकृष्ण ने एक समय कहा था कि जिसने यौन-कामना का त्याग किया है उसने वास्तव में संसार का ही त्याग कर दिया है। यौन-कामना के पीछे जो रुचि है, वह यथार्थ में है क्या ? मैं कहता हूँ कि जब आधुनिक मनोवैज्ञानिक हमारी कार्यों की प्रेरणा को यौन-भावना में निहित देखता है, तो वह असल में यथार्थ प्रेरणा को गलत ढंग से पढ़ता है। हम सभी उस यथार्थ प्रेरणा को गलत ढंग से पढ़ते हैं। इस गलत पढ़ने के कारण और यह भावना मन में रूढ़ हो जाने के कारण कि हमें अपनी ऐन्द्रिक वासना को रोकना नहीं बल्कि चरितार्थ कर लेना

चाहिए, मानवजाति की महान् हानि हुई है। इस भावना ने हताशा को जन्म दिया है। महाभारत में कहा है, —

न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति।
हविषाकृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

—अर्थात् कामनाओं के उपभोग से कामनाएँ नष्ट नहीं होतीं बल्कि वैसे ही बढ़ जाती हैं जैसे घी डालने पर आग।

यौन-भावना के पीछे वह वास्तविक प्रेरणा कौन सी है? ऊपर में मैंने "आनन्द" शब्द का प्रयोग किया है। हाँ, हमारी रुचि, हमारी प्रेरणा आनन्द प्राप्त करने में है। और केवल ईश्वर ही वह आनन्द है। हमारे भीतर की प्रेरणा उस असीम सत्य को अनुभव में लाने की है। हम सत्स्वरूप का, शाश्वत आनन्द का, दैवी प्रेम का, शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव करना चाहते हैं। हम उसे पाना चाहते हैं। यह जो संसार से युक्त होने की प्रेरणा हमें अनुभव में आती है, वह वास्तव में ईश्वर से युक्त होने की प्रेरणा ही है जो गलत दिशा में मुड़ गई है।

एक समय श्रीरामकृष्ण के एक तरुण शिष्य ने उनसे पूछा, "महाराज! मैं काम-भाव पर नियंत्रण कैसे प्राप्त कर सकता हूँ?"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "तुम कामभाव को नियंत्रण में क्यों लाना चाहते हो? उसे बढ़ाओ।"

श्रीरामकृष्ण का यह उत्तर चकरा देने वाला मालूम पड़ेगा। किन्तु शिष्य समझ गया कि वे क्या कहना चाहते थे। कामभाव को बढ़ाना है, उसे तीव्रतर करना है और

उसके प्रवाह को ईश्वर की ओर मोड़ देना है। तभी वह रुचि, वह प्रेरणा वास्तविक रूप से चरितार्थ होती है जिसे हम गलती से यौन-भावना के रूप में देखते हैं।

दूसरी बात है महत्त्वाकांक्षा को प्रेरणा के रूप में देखना। साधारण रूप से यह महत्त्वाकांक्षा धन और सत्ता की होती है। उच्च रूप से विकसित मन में यह महत्त्वाकांक्षा बड़ी प्रबल होती है। एक साधारण व्यक्ति जो मंदबुद्धि है, इन्द्रियजन्य भोगों से ही तृप्त हो जाता है। एक उन्नत मनवाले व्यक्ति के लिए धन और सत्ता के सामने यौन-कामना को पूर्ति निकृष्ट है। इसीलिये ऐसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति मन की शक्तियों को समेट कर अपनी इच्छित वस्तु पर केन्द्रित करते हैं और उसे प्राप्त भी कर लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों की जब अंतिम महत्त्वाकांक्षा भी पूरी हो जाती है तो इन्द्रियों की दुनिया में रहने वाले व्यक्तियों के समान उन्हें भी ऐसा महसूस होता है कि अभी भी कुछ अभाव अवश्य है। करोड़पतियों के आत्मघात कर लेने की बात हम बहुधा पढ़ते ही रहते हैं। मतलब यह हुआ कि धन और सत्ता से उन्हें परितोष नहीं मिल सका।

जो भीतरी प्रेरणा हमें अपनी महत्त्वाकांक्षा को चरितार्थ करने के लिए प्रेरित करती है, वह है क्या ? वह है सीमित वस्तुओं से असंतोष। मनुष्य जीवन को सारी सीमितता को लाँघ जाना चाहता है। हमारी भीतरी प्रेरणा, भीतरी अभिरुचि है — उस ईश्वरत्व को प्रकट कर लेना जो हममें निहित है।

( ३ )

यूरोप में एक मनोवैज्ञानिक हैं। इन्होंने कहा कि आज यौन-दमन की बजाय हम ईश्वर-दमन का अभ्यास कर रहे हैं! फ्रायड का भला हो! यह बात कितनी सच है। मनुष्य को जहाँ से वास्तविक प्रेरणा मिल सकती थी वही सबसे अधिक उपेक्षित है। अपने मन को धर्म की ओर मोड़कर मनुष्य पूरी तृप्ति प्राप्त कर सकता है।

धर्म से मेरा तात्पर्य विभिन्न धर्मों से नहीं है। धर्म तो केवल एक है। उसे शाश्वत धर्म कह लीजिए, सनातन धर्म कह लीजिए। विभिन्न धर्मों के अन्तर्गत ईसाई, बौद्ध, इस्लाम, हिन्दू, यहूदी, पारसी आदि आते हैं, पर मेरा कहने का अर्थ यह है कि यथार्थ में धर्म तो एक ही है।

और वह धर्म है क्या? यदि संसार के इन विभिन्न धर्मों का अध्ययन किया जाय तो कौन सा सत्य प्राप्त होता है? यही कि ईश्वर है और ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। यदि पूछो कि ईश्वर कहाँ है तो उत्तर यह है कि वह प्रत्येक मानवात्मा में रमा हुआ है। इसे जानो और इसकी अनुभूति की कोशिश करो; बस यही धर्म है।

जिस एक शाश्वत धर्म की बात मैंने कही, उसे ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। इतिहास में हम ऐसे महान् पुरुषों और मसीहाओं को देखते हैं जो समय-समय पर जन्म लेकर उसी शाश्वत धर्म को आविष्कृत करते हैं। एक समय एक अत्यन्त कट्टर ईसाई ने मुझसे कहा कि ईसामसीह ने ही सबसे पहले अमरत्व की शिक्षा दी और उनके

बाद से ही लोग अमरत्व के अधिकारी बने। कैसा विचित्र तर्क है! यह तो ऐसा कहना ही हुआ कि जब तक न्यूटन नहीं आये थे और गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को उन्होंने नहीं खोज निकाला था, तब तक वह सिद्धान्त कार्यरत था ही नहीं!

असल में सन्तुष्टि केवल धर्म में है। धर्म की ओर वापस जाओ। भले ही तुम शास्त्रों को कंठस्थ कर लो, भले ही हर सिद्धान्त और उपपत्ति की अच्छी व्याख्या कर लो, भिन्न-भिन्न दर्शनों पर अधिकार प्राप्त कर लो, पर यदि केवल यहीं तक सीमित रहे तो शाश्वत धर्म के क्षेत्र में तुम निरे बच्चे ही हो। तब हम धार्मिक कब बनेंगे? जब हृदय के भीतर ईश्वर के लिये प्रेरणा जागेगी, जब हम इस प्रेरणा को बुद्धि से समझ लेंगे और जब उस ईश्वर की अनुभूति कर उसके साथ युक्त हो जाने के लिए हम अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित करेंगे, तभी हम धार्मिक बनेंगे।

( ४ )

मैं ईश्वर का ध्यान किस प्रकार करूँ? तुम जबरदस्ती ईश्वर की धारणा उस प्रकार न करो जैसी कि अन्य लोग ने की है। तुम अपने ढंग से ईश्वर पर विचार करो; ईश्वर के सम्बन्ध में तुम्हें जो बातें अच्छी लगती हैं उन्हीं का चिन्तन करो। कुछ दिन पहले एक महिला मेरे पास आईं और उन्होंने मुझसे कहा कि वे अमुक धर्म का अध्ययन कर रही हैं जिसमें यह सिखाया गया है कि ईश्वर एक "तत्त्व" है। मैंने उनसे कहा कि उन्हें ईश्वर की भक्ति अपने

भीतर जगानी चाहिए। इस पर वे बोलीं, "मैं उपर्युक्त धर्म में दीक्षित हूँ और उसमें सिखाया गया है कि ईश्वर एक तत्व है। वह प्रेम स्वरूप है; सत्यस्वरूप है,वह विद्युत् के समान कुछ है। पर मैं अपने आपको ऐसे अमूर्त ईश्वर के साथ कैसे लगा सकती हूँ ? इस 'तत्त्व' का क्या अर्थ है? जो वस्तु विद्युत् के समान हो उसे मैं कैसे पूज सकती हूँ, उसकी भावना कैसे कर सकती हूँ ?" इस महिलाने ईश्वर की धारणा अपने मन के अनुकूल नहीं की थी।

वेदान्त के प्रति यह कहकर कटाक्ष किया जाता है कि हिन्दुओं का ईश्वर के संबन्ध में कोई निश्चित मत नहीं है। पर हम तो कहेंगे कि इसीलिए वेदान्त महनीय है। इसी में उसकी उदात्तता है। ज्योंही तुम उस दैवी सत्ता के संबन्ध में एक निश्चित धारणा बना लेते हो तो समझ लो कि वह ईश्वर नहीं हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि दुनिया की सारी चीजें मनुष्य के ओठों से छूकर जूठी हो गई हैं। पर एक ऐसा भी सत्य है जिसे कोई जूठा न कर सका। और वह सत्य है, ईश्वर। जब तुम ईश्वर को देख लेते हो तो यह नहीं बता सकते कि वह कैसा है। ईश्वर की कोई निश्चित व्याख्या नहीं दी जा सकती। फिर भी इन विभिन्न धारणाओं को सामयिक सत्य कहा जा सकता है क्योंकि इनमें से प्रत्येक धारणा अलग अलग मन की पात्रता के अनुसार उसी चरम सत्य का ही दर्शन है।

समुद्र के जल को उदाहरण के तौर पर ले लें। सागर

का जल आकारहीन है। लोग भिन्न भिन्न रूप और आकार के बर्तन लेकर समुद्र में पानी भरने जाते हैं। तब वह निराकार सागर विभिन्न बर्तनों के अनुसार भिन्न भिन्न आकार धारण कर लेता है। हम भी ऐसे ही बर्तन हैं और हमारा मन ईश्वर को ग्रहण करना चाहता है। हम सागर में डुबकी लगाते हैं और ईश्वर की अपनी धारणा लेकर निकल आते हैं। पर वास्तव में प्रत्येक बर्तन में है क्या ? आखिर सागर का वही जल ही न !

एक समय श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य उनके पास आये। ये शिष्य पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से बड़े प्रभावित थे। उन्होंने श्रीरामकृष्ण से कहा, "महाराज, हमें लोगों को यह सिखाना चाहिए कि मंदिर में चित्रों और मूर्तियों की पूजा करना गलत काम है।"

श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "तुम कलकत्तावालों की बस यही एक बात है! खाली दूसरों को सिखाना और उपदेश देना चाहते हो। खुद तो भिखारी हो और लाखों का दान करना चाहते हो!" उन्होंने पुनः कहा, "तुम क्या सोचते हो कि ईश्वर यह नहीं समझते कि चित्रों और मूर्तियों में उन्हीं की पूजा हो रही है ? यदि पूजा करने वाला कोई गलती करे तो क्या ईश्वर उसके भाव को नहीं ग्रहण करेंगे ?"

(५)

तो अब एकाग्रता का रहस्य यह है कि ईश्वर के लिए हृदय में आकुलता पैदा की जाय। क्योंकि जब तक हम

उनमें अपने मन को एकाग्र नहीं कर पाते, जब तक हृदय को उनसे लगा नहीं पाते, हम उनकी प्राप्ति नहीं कर सकते। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिसका हम चिंतन करते हैं। उसके प्रति आसक्त हो जाते हैं। यदि तुम किसी व्यक्ति का ध्यान करो, उसके बारे में सोचो, तो देखोगे, उसके प्रति तुम्हारा लगाव हो रहा है। तुम्हें उसके बारे में अधिक सोचना अच्छा लगेगा, उसमें तुम्हें सुख का अनुभव होगा। ईश्वर के संबन्ध में भी यही नियम लागू होता है। यद्यपि हमारी मूल प्रेरणा ईश्वर के आनन्द को पाने की है, तथापि हमें पहले पहल ईश्वर के प्रति कोई विशेष लगाव नहीं होता। यह लगाव कैसे पैदा किया जाय? उपाय है— सोचो, उसी के बारे में सोचो। सब समय उसी को याद को बनाये रखने का प्रयास करो। इसका नियमित अभ्यास करो। तभी तो नित्य प्रति ध्यान करना इतना महत्त्वपूर्ण है। जब ऐसा करोगे तो देखोगे कि ईश्वर पर तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी आसक्ति, तुम्हारा लगाव धीरे धीरे बढ़ता जा रहा है। तब 'क्षिप्त' और 'मूढ़' कोटि के मन का विकास होगा और 'विक्षिप्त' की श्रेणी को प्राप्त करेगा। नियमित अभ्यास के फल स्वरूप तुम मन को उच्चतम श्रेणी - एकाग्र अवस्था - को प्राप्त कर सकोगे। ईश्वर पर मन को लगाने का प्रयत्न करोगे तो उनमें तुम्हारी रुचि होगी, रुचि के बढ़ने से एकाग्रता परिपक्व होगी।

एकाग्रता में ही सुख है। यहाँ तक कि ऐन्द्रिक सुखों में भी मन जितना ही केन्द्रित होगा, आनन्द की मात्रा

उतनी ही अधिक होगी। मान लो तुम भोजन कर रहे हो; भोजन बड़ा स्वादिष्ट है पर तुम्हारा मन अन्यत्र कहीं चला गया है। ऐसी दशा में सुख की अनुभूति अल्प ही होगी। जिस तीव्रता से एक शूकर अपने भोजन में सुख प्राप्त करता है वैसा मनुष्य कभी नहीं कर सकता, क्योंकि शूकर की सारी वृत्तियाँ उसके भोजन के समय आहार में केन्द्रित हो जाती हैं।

ईश्वर के चिन्तन से उनमें लगाव होता है। लगाव बढ़ने से एकाग्रता होती है। और एकाग्रता कालान्तर में ईश्वर में हमें पूरी तरह डुबा देती है। ऐसा डूब जाना ही एकाग्रता का लक्ष्य है। उस स्थिति में ध्येय और ध्याता दोनों का अभाव हो जाता है और एकमात्र वह सुख, वह आनन्द की अनुभूति हो रह जाती है जिसकी खोज हम चिरकाल से कर रहे थे।

—'वेदान्त एंड दि वेस्ट' से साभार।

यह तन विष की बेलटी गुरु अमृत की खान।
सीस दिये जो गुरु मिले तो भी सस्ता जान॥

— कबीर

# श्रीरामकृष्ण वचनामृत के अमर रचयिता

# महेन्द्रनाथ गुप्त

डा० नरेन्द्र देव वर्मा

कलकत्ता से कुछ मील दूर गंगा के उत्तरी किनारे पर रानी रासमणि ने जगन्माता भवतारिणी देवी का बड़ा भव्य मंदिर बनवाया है। यहाँ पहुँचकर मनुष्य भवताप से मुक्त होकर ईश्वरीय आलोक से पूरित वातावरण में विचरण करने लगता है। सर्व-धर्म-समन्वय के जीवन्त विग्रह श्रीरामकृष्ण परमहंस भक्तों और जिज्ञासुओं को आध्यात्मिकता का उपदेश देते हुए दक्षिणेश्वर में निवास कर रहे हैं। उनकी देव-दुर्लभ अध्यात्मिकता की सुरभि चारों ओर फैल गयी है और भौतिकता की व्याधि से त्रस्त जन उनके समीप पहुँचकर, उनके दर्शन कर, उनके पुनीत वचनों को सुनकर कृतकृत्य हो रहे हैं। ऐसे ही समय कलकत्ते से एक युवक उनका दर्शन करने दक्षिणेश्वर पहुँचा। दक्षिणेश्वर के महान संत अपने कमरे में बैठे हुए भक्तों से वार्तालाप कर रहे थे। किन्तु वह युवक संकोची प्रकृति का था। वह अंग्रेजी शिक्षा में दीक्षित था तथा सोच रहा था कि बिना पहले से सूचित किये कमरे में प्रवेश करना उचित होगा या

नहीं। इसी बीच एक दासी उधर से निकली। युवक ने उससे कहा कि वह महात्माजी को बतादे कि एक व्यक्ति उनसे मिलना चाहता है। क्या वह उनसे अभी मिल सकता है? दासी ने जवाब दिया कि वे अन्दर जाकर स्वयं दर्शन कर लें। उस युवक ने फिर पूछा—"अच्छा, महात्मा जी तो बहुत किताबें पढ़ते होंगे न?" दासी ने कहा, "किताबें तो उनके मुँह में बसी हैं। आप अंदर जाते क्यों नहीं? जाइये. उनके दर्शन कीजिये।" उस युवक को जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि महात्माजी किताब-विताब कुछ नहीं पढ़ते। वह सकुचाता हुआ कमरे के भीतर गया। उसने देखा कि श्रीरामकृष्ण भक्तों से घिरे बैठे हैं और भगवच्चर्चा कर रहे हैं। वह उन्हें प्रणाम करता है। श्रीराम-कृष्ण बड़ी आत्मीयता से उसकी ओर देखते हैं और उसे बैठने के लिये कहकर पुनः ईश्वर की चर्चा करने लगते हैं। वह युवक काफी पढ़ा-लिखा था। उसने ईश्वर और संसार के बारे में कांट, हीगल, हैमिल्टन और हर्बर्ट स्पेंसर जैसे निरीश्वरवादी दार्शनिकों के विचारों का अध्ययन किया था। वह आधुनिक बौद्धिक ज्ञान से ही संतुष्ट था। किन्तु जब उसने इस महान संत के मुख से ईश्वरविषयक विचारों को सुना तो उसकी धारणा बदलने लगी। श्रीरामकृष्ण के शब्द सीधे हृदय से निकल रहे थे और उनमें शास्त्रविलासी पण्डितों की सी जटिलता नहीं थी। वह युवक आतुर कण्ठ से उनकी शब्दमाधुरी का पान करने लगा। जब अन्य भक्त चले गये तब श्रीरामकृष्ण ने उस युवकसे उसके और उसके

परिवार के बारे में पूछा। जब उन्हें पता चला कि वह युवक विवाहित है तथा उसके पुत्र भी है तो उन्हें बड़ा विस्मय हुआ। फिर उन्होंने उससे उसकी पत्नी के विषय में पूछा तब उसने बताया, "और सब तो ठीक है पर वह अज्ञान है।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण हँस पड़े और बोले, "अच्छा, और क्या तुम अपने को ज्ञानी समझते हो?" उनकी बातों को सुनकर उस युवक ने जाना कि ग्रन्थों को पढ़ने से ज्ञानी नहीं बना जाता। ईश्वर का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। जिसने ईश्वर को जाना है वही असली ज्ञानी है।

इसी युवक ने कालान्तर में विश्वविख्यात 'श्रीरामकृष्ण वचनामृत' की रचना की थी जो आज कोटि-कोटि भक्तों और जिज्ञासुओं का धर्मग्रन्थ बन गया है। युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने यदि श्रीरामकृष्ण देव के संदेशों का विश्वव्यापी प्रचार किया था तो श्रीरामकृष्ण वचनामृत के इस अमर रचनाकार ने आध्यात्मिकता के एक ऐसे शाश्वत आलोक-केन्द्र की प्रतिष्ठा की जो शताब्दियों तक आत्मिक उन्नयन और ईश्वर-साक्षात्कार के पथ को प्रकाशित करता रहेगा। इस युवक का नाम महेन्द्रनाथ गुप्त था और यह श्रीरामकृष्ण वचनामृत में मास्टर, मास्टर महाशय, 'म', एक भक्त व्यक्ति इत्यादि छद्मनामों से उपस्थित होता है।

महेन्द्रनाथ गुप्त का जन्म कलकत्ता में १४ जुलाई सन् १८५४ में हुआ था। इनके पिता श्रीयुत् मधुसूदन गुप्त और माता श्रीमती स्वर्णमयी देवी का स्वभाव बड़ा ही धार्मिक था। मधुसूदन गुप्त के चार कन्याएँ और चार पुत्र

थे। महेन्द्रनाथ उनके तीसरे पुत्र थे। जब महेन्द्रनाथ चार वर्ष के थे तब उनकी माता उन्हें साथ ले गंगा के तट पर स्थित महेश नामक स्थान में रथयात्रा देखने के लिये गयीं। लौटते समय वे लोग दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि द्वारा स्थापित कालीमंदिर में भी गये। उस समय मन्दिर को बने केवल तीन ही वर्ष हुए थे। मन्हेद्रनाथ के मन में यह घटना बिल्कुल ताजी थी। वे कालान्तर में बताया करते थे कि "तब काली मन्दिर संगमरमर के समान सफेद और नया दिखाई दे रहा था। उसकी परिक्रमा करते समय मैं अपनी माँ से बिछुड़ गया और रोने लगा। मेरे रुदन को सुनकर मन्दिर से एक व्यक्ति आया और मुझे चुप कराते हुए कहने लगा, 'अरे, यह किसका बच्चा है? इसकी माँ कहाँ चली गयी'?" महेन्द्रनाथ का अनुमान था कि सम्भवतः श्रीरामकृष्णदेव ही वे व्यक्ति थे जिन्होंने उसे चुप कराया था।

महेन्द्रनाथ अपनी माता को बहुत चाहते थे जब उनके देहावसान हुआ तब वे फूट-फूट कर रोने लगे। एक रात उनकी माता सपने में आयीं और कहा, 'इतने दिनों तक मैं तुम्हारी देख-भाल करती थी। मैं अब भी तुम्हारी देख-भाल करूँगी, पर तुम मुझे नहीं देख सकोगे।" इस घटना का उल्लेखकर महेन्द्रनाथ कहा करते थे, "जगन्माता ने हीं मेरी जन्मदायिनी माता के रूप में मेरा लालन-पालन किया था। वह अब भी मेरी रक्षा कर रही है।"

परवर्ती काल में महेन्द्रनाथ के जीवन में जिस आध्यात्मिकता का विकास हुआ था उसके लक्षण बचपन में ही

दिखायी देने लगे थे। उनका स्वभाव दया और करुणा से भरा हुआ था। रास्ता चलते समय वे मार्ग के प्रत्येक मंदिर में प्रवेश कर विग्रह को बड़ी श्रद्धा-भक्ति से प्रणाम किया करते थे। दुर्गापूजा के अवसर पर वे घंटो महिषमर्दिनी की प्रतिमा को एकटक देखते रहते और उसके अलौकिक सौन्दर्य का पान किया करते थे। उनके मन में साधु-सन्तों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। इसी प्रवृत्ति ने उन्हें दक्षिणेश्वर के महान संत श्रीरामकृष्णदेव के चरणों के समीप उपस्थित किया था।

महेन्द्रनाथ बड़े मेधावी छात्र थे। उन्होंने हेयर स्कूल से एण्ट्रेंस की परीक्षा में द्वितीय स्थान प्राप्त किया था। वे एफ. ए. की परीक्षा में पाँचवे स्थान पर उत्तीर्ण हुए थे। प्रेसिडेन्सी कॉलेज से उन्होंने बी. ए. की परीक्षा दी थी और वे विश्वविद्यालय में तृतीय स्थान पर उत्तीर्ण हुए। वे अंग्रेजी के विख्यात प्रोफेसर सी० एच० टावनी के शिष्य थे जिनसे उनका सम्बन्ध बराबर बना रहा। टावनी महोदय ने श्रीरामकृष्ण पर एक लेख लिखा था।

कॉलेज की पढ़ाई करते समय ही श्रीयुत ठाकुरचरण सेन की सुपुत्री श्रीमती निकुंजदेवी के साथ उनका विवाह हो गया था। प्रख्यात ब्राह्मसमाज के नेता श्री केशवचन्द्र सेन निकुंजदेवी के चाचा थे। इसके अतिरिक्त, कन्या को श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ सारदा देवी का शुभाशीर्वाद भी प्राप्त हुआ था। गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश करने के उपरान्त महेन्द्रनाथ ने अनेक शालाओं में अध्यापन किया और अनेक महा-

विद्यालयों में वे अंग्रेजी भाषा, साहित्य, मनोविज्ञान और नीतिशास्त्र तथा इतिहास एवं अर्थशास्त्र के प्राध्यापक भी नियुक्त हुए थे। जब वे श्यामबाजार ब्रांच स्कूलमें अध्यापकी कर रहे थे तभी उनकी भेंट श्रीरामकृष्ण से हुई थी।

इसके पूर्व महेन्द्रनाथ केशवचन्द्र सेन पर अगाध श्रद्धा रखते थे। वे उनके घर में तथा नवविधान मंदिर की अनेक उपासना-सभाओं में सम्मिलित हुए थे। वे केशव की वक्तृता से अभिभूत थे तथा उन्हें ईश्वर के समान मानते थे। केशव अभिभूत करनेवाले अप्रतिम वक्ता थे। बाद में महेन्द्रनाथ ने बताया था कि वे उससमय केशव की वक्तृता से इसलिये प्रभावित और अभिभूत हुए थे क्योंकि केशव तब श्रीरामकृष्ण देव से मिला करते थे और केशव के माध्यम से मानो श्रीरामकृष्ण देव ही बोला करते थे। इन्हीं दिनों केशवचन्द्र सेन श्रीरामकृष्ण देव से परिचित हुए थे और उनकी आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर अपने भक्तों और शिष्यों के साथ उनके दर्शनार्थ जाया करते थे।

महेन्द्रनाथ सन् १८८२ के वसंतकाल मेंश्रीरामकृष्ण देव से पहली बार मिले थे और उनकी देवदुर्लभ संगति से प्रभावित हुए थे। उनकी कृपा से ही महेन्द्रनाथ को ज्ञात हुआ था कि श्रीरामकृष्ण देव अनन्त ज्ञानके मूल स्रोत हैं। ईश्वर-साक्षात्कार ही यथार्थ ज्ञान है। अन्य ज्ञान सीमित और इन्द्रियभूत होते हैं – वे अज्ञान के ही रूप हैं। कालान्तर में वे कहा करते थे, "बुद्धि की तुला दोषहीन नहीं है। बुद्धि तो एक कमजोर तंतु मात्र है। वह इन्द्रियों के द्वारा

सीमित और नियंत्रित होती है इसलिये वह अनन्त और असीम की समस्या का समाधान नहीं कर सकती। अनन्त सत्ता का ज्ञान उसके साक्षात्कार से ही उपलब्ध होता है। इसके लिये उन महात्माओं का सत्संग करना चाहिये जो निरन्तर शाश्वत और असीम सत्ता के क्षेत्र में विचरण करते रहते हैं। यह आध्यात्मिक जीवन की प्रथम आवश्यक शर्त है। इसीसे हमारा मन पवित्र होता है और अनन्त एवं असीम ईश्वरीय तत्व के आलोक को ग्रहण करने के योग्य बनता है। केवल बौद्धिक ज्ञान अलौकिक तत्व के राज्य में प्रवेश करने में हमारी कोई सहायता नहीं कर सकता।" श्रीरामकृष्ण उनके समक्ष महान ज्ञानी थे जो सीमित और इन्द्रियभून ज्ञान के धुँधलकेको चीर कर समाधि में चरमसत्ता का साक्षात्कार करने में सफल हुए थे।

महेन्द्रनाथ को देखते ही श्रीरामकृष्ण देव ने उनकी आध्यात्मिक संभावनाओं को जान लिया था। वे यह जानकर दुःखी थे कि वह विवाहित हैं और उनके एक पुत्र भी है। उनका विचार था कि व्यक्ति को संसार में अपनी शक्ति का अपव्यय न कर उसे एकत्रित करना चाहिये। शरीर, आत्मा और मन की समस्त शक्तियों को ईश्वराभिमुख करना ही पुरुषार्थ है। इसीसे आध्यात्मिकता की सिद्धि होती है। श्रीरामकृष्ण देव ने महेन्द्रनाथ से कहा, "तुम्हारी आँख, भौंह और चेहरे के चिह्नों को देखकर मैं जान गया हूँ कि तुम योगी हो। तुम ऐसे योगी हो जो अपना ध्यान छोड़कर अभी ही आसन से उठा हो।"

श्रीरामकृष्णदेव ने महेन्द्रनाथ का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। सबसे पहले महेन्द्रनाथ ने उनसे पूछा था कि संसार में कैसे रहा जाय। तब श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बताया, "अपना सारा कार्य करो पर अपने मन को ईश्वर में लगाये रखो। स्त्री, पुत्र, माता, पिता के साथ रहकर उनकी इसप्रकार सेवा करो मानों वे तुम्हारे परम आत्मीय हैं पर अपने मन में जानते रहो कि तुम्हारा उनके साथ क्षणमात्र का ही सम्बन्ध है। बड़े घर की नौकरानी घर का सारा काम करती है पर उसका मन सदैव अपने गाँव के घर में लगा रहता है। वह अपने मालिक के बच्चों को अपना कहती है और उनसे अपने बच्चों के समान प्रेम करती है। वह उन्हें 'मेरा बेटा', 'मेरा मुन्ना' कहती है पर वह यह अच्छी तरह जानती है कि वे उसके नहीं हैं। कछुवा सरोवर के जल में इधर-उधर तैरता रहता है पर उसका सारा ध्यान किनारे पर रखे गये अपने अण्डों पर लगा रहता है। इसीप्रकार संसार का सब काम करो पर अपना मन ईश्वर के चरणों में लगाये रखो। भगवान् का प्रेम पाने के बाद यदि तुम संसार का काम करोगे तो तुम अनासक्त रहोगे। उनकी कृपा पाने के लिये कभी-कभी दो-चार दिनों के लिये एकान्त में जाकर रहना चाहिये और सब समय ईश्वर का ही चिन्तन करना चाहिये। यदि दूध से मक्खन निकलना हो तो उसे एकान्त में दही का जामन डालकर जमने के लिये छोड़ देना चाहिये। इसके बाद सावधानी पूर्वक दही को मथना

चाहिये। इससे मक्खन जल में तैरता रहेगा और उसमें नहीं मिल सकेगा। इसी प्रकार एकान्त में प्रार्थना और ध्यान करने से व्यक्ति को प्रेम का नवनीत और ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होता है। फिर मन भले ही संसारिक कार्यों में लगे, वे उसमें लिप्त नहीं होगा प्रत्युत संसार के जल के ऊपर तैरता ही रहेगा। अतः संसार में तो रहो, पर संसार का होकर मत रहो।"

संसार की अनेकविध चिन्ताओं और कार्यों में लीन रह कर इस उपदेश का पालन करना अतिशय कठिन है। किन्तु गुरु की कृपा से महेन्द्रनाथ ने उनके उपदेशों को जीवन में पूर्णतः उतार लिया। परवर्ती काल में उनके जीवन का यह पक्ष विशेष रूप से उद्घाटित हुआ था। वे नाममात्र के लिये ही संसार में रहते थे पर उनका मन सदैव ईश्वर के पादाम्बुजों में लगा रहता था। साधु-संन्यासी गणों के साहचर्य में वे बहुत आनंदित हो जाते थे। श्रीरामकृष्ण देव के अलौकिक जीवन पर वे घन्टों चर्चा किया करते थे। उनका घर तीर्थस्थान के रूप में परिणत हो गया था। महेन्द्रनाथ निरन्तर ईश्वरीय चर्चा में लीन रहा करते। कभी तो वे धार्मिक ग्रन्थों का श्रवण करते और कभी श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और सन्देश पर चर्चा करते हुए बाइबिल, पुराण और उपनिषद से यीशु, कृष्ण और चैतन्य के वचनों की तुलना करते। उनके सामने अन्य किसी विषय पर चर्चा हो ही नहीं सकती थी। किसी अन्य विषय के

उठते ही वे बड़े कौशल से धार्मिक चर्चा की ओर सबके ध्यान को मोड़ दिया करते थे जिससे सारा वातावरण आध्यात्मिकता से परिपूर्ण हो जाता था।

श्रीरामकृष्णदेव जानते थे कि महेन्द्रनाथ उनके लीला-सहचर हैं। वे युगावतार के कार्य को करने के लिये संसार में आये हैं। इसीलिये उन्होंने महेन्द्रनाथ को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख किया था। एक दिन वे भावावस्था में जगन्माता से संताप करते हुए कह रहे थे-"माँ, तुमने उसे शक्ति की एक ही कला क्यों दी? अच्छा, मैं देखता हूँ कि केवल उतने से ही तुम्हारा कार्य हो जायेगा।" महेन्द्रनाथ प्रारम्भ से ही निराकार की ओर उन्मुख थे। जब उन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपनी अभिरुचि बतायी तब उन्होंने उन्हें प्रोत्साहित किया। ईश्वर के निराकार स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये वे उन्हें एक जलाशय के किनारे ले गये और बताया कि जिस प्रकार मछली जल में आनन्द से तैरती रहती है उसी प्रकार आत्मा भी आनन्दरूप अनन्त ब्रह्म में विचरण करता है। किन्तु उन्होंने महेन्द्रनाथ को मतवाद और संकीर्णता को त्यागने की सलाह दी और अन्य उपासना-विधियों के प्रति उदार बनाया। धीरे-धीरे उन्होंने उन्हें ईश्वर के साकार रूप की महिमा से भी अवगत कराया। उन्होंने कहा, "साकार उपासना पर ध्यान दो। भक्त अपनी चेतना में भगवान का जो भी रूप अंकित करता है, भगवान भक्त को उसी रूप में दर्शन देते हैं।" इसप्रकार श्रीरामकृष्णदेव के कुशल

निर्देशन में महेन्द्रनाथ के जीवन में आध्यात्मिकता की गहरी नींव पड़ती गयी।

जो लोग श्रीरामकृष्णदेव के पास आया करते थे, उनसे श्रीरामकृष्ण अपने सम्बन्ध में पूछा करते थे। उनके उत्तरों से उन्हें उनकी आध्यात्मिक संभावनाओं का ज्ञान हो जाया करता था। जो लोग उन्हें अवतार समझते थे, उनमें महत्तर आध्यात्मिक संभावनाएँ होती थीं। जब महेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण से तीसरी बार मिले तब श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, "अच्छा, बताओ तो, तुम मेरे बारे में क्या सोचते हो? मुझमें कितने आने ज्ञान है?" महेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया, "आपमें कितने आने ज्ञान है यह तो मैं नहीं कह सकता किन्तु आपमें जो ज्ञान, प्रेम, दया और पवित्रता है वह मैंने अन्य किसी में नहीं देखा है।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण देव मुस्कराये। कुछ दिनों के बाद उन्होंने फिर पूछा। तब महेन्द्रनाथ ने कहा, "ईश्वर ने आपको अपने हाथों से गढ़ा है। अन्य सबको मशीन से बनाया है।" कुछ समय के पश्चात् वे स्वयं बोले, "भगवान की शक्ति आपके भीतर विद्यमान है।" श्रीरामकृष्ण देव ने सहास्य जिज्ञासा की, "अच्छा, उस शक्ति की कितनी मात्रा मेरे भीतर है?" तब महेन्द्रनाथ ने कहा, "मात्रा के बारे में तो मैं नहीं कह सकता पर उनकी शक्ति का अवतरण आपमें अवश्य हुआ है।" इसके थोड़े समय के उपरान्त महेन्द्रनाथ ने घोषणा की, "मेरा विचार है कि ईसा, चैतन्य और आप एक और अभिन्न हैं।"

एक दिन श्रीरामकृष्णदेव अवतार-तत्त्व पर चर्चा कर रहे थे। महेन्द्रनाथ उस समय वहाँ उपस्थित थे। श्रीरामकृष्ण ने कहा, "अवतार एक बड़ा गवाक्ष है जिससे अनन्त सत्ता का अपरिसीम विस्तार दिखायी देता है।" महेन्द्रनाथ को एकाएक बोध हुआ और वे कह उठे, "हाँ आप वही गवाक्ष हैं जिससे असीम दिखता है।" यह सुन कर श्रीरामकृष्ण अत्यन्त स्नेह से उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहते हैं, "अन्त में तुमने यह जान लिया। यह बहुत अच्छा हुआ।" उसी दिन महेन्द्रनाथ ने पुनः निराकार ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। श्रीरामकृष्णदेव ने उनसे साकार के सम्बन्ध में पूछा। तब महेन्द्रनाथ ने कहा कि ईश्वर के अन्य रूपों में उनका मानवीय रूप उन्हें अधिक भाता है। इसपर श्रीरामकृष्ण बोले, "तुम मुझे देख रहे हो, तुम्हारे लिये यही पर्याप्त है।" श्रीरामकृष्ण देव के वचनों को सुनकर महेन्द्रनाथ के समस्त आवरण कट गये। उन्होंने जाना कि श्रीरामकृष्ण ईश्वरीय शक्ति के जीवन्त विग्रह हैं। उनको देखना ही ईश्वर को देखना है। श्रीरामकृष्णदेव उनके जीवन की धुरी बन गये। महेन्द्रनाथ का मन-प्राण उनपर केन्द्रित हो गया। श्रीरामकृष्ण को देखना, उनकी सेवा करना और उनके वचनों को सुनना ही उनकी इच्छाएँ थीं। श्रीरामकृष्ण देव के प्रति उनकी अनुपम श्रद्धा-भक्ति थी वे उनके पुनीत साहचर्य में अतिशय प्रफुल्लित हो जाया करते थे।

जगन्माता ने श्रीरामकृष्ण को महेन्द्रनाथ के जीवन के

प्रयोजन का ज्ञान करा दिया था। श्रीरामकृष्णदेव ने भावावेश में एक अपूर्व दृश्य देखा। उन्होंने देखा कि चैतन्य महाप्रभु भगवन्नामका कीर्तन कर रहे हैं तथा उनके सहचर के रूपमें महेन्द्रनाथ भी हैं। इसका उल्लेख करते हुए उन्होंने महेन्द्रनाथ को बताया, "जब तुम चैतन्य-भागवत पढ़ रहे थे तभी मैंने तुम्हें पहचान लिया था। तुम वही हो जो मैं हूँ, जैसे पिता और पुत्र। जब तक तुम यहाँ नहीं आये थे तबतक तुम आत्मविस्मृत थे। अब तुम स्वयं को जान लोगे। जाओ, संसार में निरासक्त होकर रहो।" महेन्द्रनाथ के कल्याण के लिये जगन्माता से प्रार्थना करते हुए श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था, "माँ, तुम उसे वीतराग संन्यासी मत बनाना। तुम्हें जो कुछ करना हो, अंत में ही करना। यदि तुम उसे संसार में रखती हो तो तुम्हें यदाकदा उसे दर्शन देते रहना होगा, नहीं तो वह सांसारिक जीवन भला कैसे बिता पायेगा? उसे जीने की प्रेरणा कहाँ से मिलेगी?" एक दिन महेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्णदेव से कहा कि वह ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये सब कुछ त्यागने के लिये तत्पर हैं। तब श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें समझाते हुए कहा, "तुम तो ईश्वर में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित हो। क्या सब कुछ छोड़ देना अच्छा होगा? भगवान अपने भक्तों को संसार में ही रखते हैं। अन्यथा लोगों को ईश्वर के बारे में कौन बतायेगा? इसीलिये तो माता ने तुम्हें संसार में रखा है।

महेन्द्रनाथ के जीवन में जो महान अनासक्ति और ईश्वर पर अगाध विश्वास दिखायी देता है वह उनके

जीवनव्यापी संघर्ष का ही परिणाम था। श्रीरामकृष्ण देव के साहचर्य में आध्यात्मिकता की जिस स्रोतस्विनी का उन्मोचन उनके अंतराल में हुआ था, उसका चिर उन्मद प्रवाह परवर्ती काल में उनके समस्त जीवन को सराबोर कर देता है। श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के उपरान्त उनके शिष्य वराहनगर मठ में एकत्रित होकर चरमतत्व का साक्षात्कार करने का प्रयत्न कर रहे थे। महेन्द्रनाथ नियमित रूप से वहाँ जाया करते थे। वराहनगर मठ में आध्यात्मिकता का समुद्र लहरें मार रहा था। महेन्द्रनाथ को इसकी अनुभूति हुई थी। वे बड़ी भक्ति से वहाँ के जल को अपने शरीर में छिड़कते थे ताकि वह पवित्र हो जाये। वे सदैव श्रीरामकृष्ण देव के भक्त-सहचरों के साथ रहे और परवर्ती काल में श्रीरामकृष्ण की अनुपम गाथाओं को सजीव ढंग से कह-कहकर भक्तों और श्रोताओं को कृतकृत्य करते रहे। जहाँ कुछ लोग श्रीरामकृष्णदेव के इन बाल-भक्तों को घर छोड़कर वराहनगर मठ में रहने के कारण बुद्धिहीन कहते थे वहाँ महेन्द्रनाथ इनमें मानव-जीवन के आदर्श को चरितार्थ होते हुए देखते थे। इसीलिये स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका से अपने पत्र में लिखा था, "श्री रामकृष्णदेव के लीला-संवरण के बाद सभी लोगों ने हमें अधकचरा और बेवकूफ छोकरा समझकर त्याग दिया था पर बलराम, सुरेश, चुनीबाबू और मास्टर (महेन्द्र-नाथ) हमारे गाढ़े समय में काम आये।"

अब महेन्द्रनाथ अधिकाधिक एकान्तवास करते हुए

आध्यात्मिक साधनाओं में लीन रहने लगे। वे दक्षिणेश्वर और वराहनगर मठ में आकर यदाकदा रहने भी लगे। अधिक समय मिलने पर वे किसी उपवन में चले जाते और ईश्वरसमर्पित जीवन बिताया करते। कभी-कभी घर में रात को जब उनकी नींद टूट जाती तो वे बिस्तर दबाकर कलकत्ता विश्वविद्यालय के सिनेट हाल के बरामदे में सोने चले जाते। किसी के पूछने पर वे कहते कि परिवार और घर के विचारों में बँध जाने पर मनुष्य बड़ी कठिनाई से मुक्त होता है। इसलिये वे इस प्रकार गृहहीन होने का अभ्यास किया करते। अध्यापकी करते समय भी समय मिलने पर महेन्द्रनाथ एकाकी कमरे में चले जाते और श्रीरामकृष्णदेव के वचनामृत का बारम्बार स्मरण करते। यह उनका अभ्यास बन गया था और इसके सहारे वे निरासक्त होकर संसार में जीवन बिताते रहे।

श्रीरामकृष्णदेव के संन्यासी शिष्यों के साथ अनेक वर्ष बिताने के उपरान्त महेन्द्रनाथ के मन में 'वचनामृत' को प्रकाशित करने की इच्छा हुई। 'वचनामृत' की रचना का उल्लेख करते हुए वे कहा करते थे, "मैं सांसारिक जीवन बिता रहा था। अनेकानेक कामों में लिप्त रहने के कारण मैं चाहकर भी श्रीरामकृष्ण देव के दर्शन नियमित रूप से नहीं कर पाता था। इसीलिये मैं उनके वचनों को लिपिबद्ध कर लिया करता था ताकि समय मिलते ही मैं उनपर मनन कर सकूँ और उनका जो प्रभाव मेरे मन पर पड़ा है वह सांसारिक कार्यों से मिट न सके। अपनी ही

भलाई और कल्याण के लिए मैंने श्रीरामकृष्णदेव के वचनामृत का संकलन किया था। मैं उन्हें अधिक-गहराई से समझना चाहता था।"

सन् १८९७ में श्रीरामकृष्ण वचनामृत का प्रकाशन सबसे पहले पैम्फलेट (रिसाले) के रूप में हुआ। इसकी प्रशंसा करते हुए अमेरिका से स्वामी विवेकानन्द ने तत्काल पत्र लिखा। 'वचनामृत' में अत्यन्त आकर्षक शैली में युगावतार के जीवन की झाँकियों और उनके उपदेशों का सजीव अंकन है। इसे पढ़ते ही व्यक्ति का मन श्रीरामकृष्णदेव के साथ विचरण करने लगता है। वह देश-काल के बंधनों का तिरस्कार कर चिरन्तन और शाश्वत के साथ एकाकार हो जाता है। युगावतार के जीवन और कार्य को ऐसी प्रभविष्णु शैली में 'वचनामृत' में उपस्थित किया गया है कि उसे पढ़ते हीं आध्यात्मिकता स्फुरित हो जाती है। महेन्द्रनाथ अपनी काव्यात्मकता, अपूर्व संवेदनशीलता, त्रुटिरहित प्रखर स्मृति और अथाह श्रद्धा-भक्ति के द्वारा ही श्रीरामकृष्णदेव का इतना प्रभावी और सजीव चित्र खींचने में समर्थ हुए थे।

सन् १९०५ में महेन्द्रनाथ ने मार्टर इंस्टीट्यूशन को खरीद लिया और झामपुकुर लेन में विद्यार्थियों को पढ़ाने लगे। विद्यार्थियों की संख्या बढ़ जाने के कारण उन्होंने आमहर्स्ट स्ट्रीट में अपने स्कूल को स्थानांतरित कर लिया। अब भी उनका अभ्यास पूर्ववत् चला था। समय मिलते ही वे कमरे में अकेले रहकर श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत

वचनों का पारायण किया करते थे। उनके पास भक्तों और श्रोताओं की भीड़ बढ़ती जा रही थी और वे नियमित रूप से सबेरे और शाम को उनके समक्ष अत्यन्त भावप्रेरक शैली में श्रीरामकृष्णदेव की लोकोत्तर लीला का वर्णन किया करते थे। श्रीरामकृष्णदेव के लीला-संवरण के उपरान्त उन्होंने वाराणसी, वृन्दावन और अयोध्या की यात्रा की थी। सन् १९१२ में श्री माँ सारदा देवी तथा अन्य संन्यासियों के साथ वे भी लगभग ग्यारह महीनों तक तीर्थों का भ्रमण करते रहे। किन्तु श्रीरामकृष्णदेव की लीला भूमि का आकर्षण अत्यन्त प्रबल था। अतः वे वापस कलकत्ता लौट आये।

महेन्द्रनाथ की दृष्टि में सब कुछ ईश्वरमय था। वे किसी भी वस्तु को क्षुद्र या सामान्य नहीं कह सकते थे। जब गले की व्याधि से पीड़ित होकर श्रीरामकृष्णदेव काशीपुर उद्यान में निवास कर रहे थे तब महेन्द्रनाथ ने उनकी जन्मभूमि कामारपुकुर की यात्रा की थी। उन्हें अनुभूति हुई कि देवमानव श्रीरामकृष्ण के जन्मस्थान का सब कुछ पवित्र है। पथ, मंदिर, गाँव, किसान और मकान और धूलि तक सभी चिन्मय और अर्थवान हैं। श्रीरामकृष्ण जहाँ जहाँ गये थे, महेन्द्रनाथ ने उन सभी स्थानों के दर्शन किये और वहाँ की धूल को अपने माथे पर लगाया। लौटने पर श्रीरामकृष्ण देव ने पूछा कि इतने बियाबान और डाकुओं से भरे मार्ग को पार कर उन्होंने कैसे यात्रा की, तो महेन्द्रनाथ ने अपनी यात्रा का विवरण

दिया। श्रीरामकृष्ण उनके प्रेम का अनुमान कर द्रवित हो गये और उनके नेत्र आर्द्र हो उठे। उन्होंने उपस्थित भक्त से कहा, "अहा! उसके प्रेम को तो देखो। उसे किसी ने नहीं कहा, पर वह स्वयं होकर वहाँ (कामारपुकुर) गया। उसका प्रेम मानों विभीषण के प्रेम के समान है। विभीषण को जब एक मनुष्य मिला तब उसने बड़े आदर से उसे वस्त्रालंकार से सुशोभित कर उसकी आरती उतारी। विभीषण ने कहा, 'अहा! यह मेरे रामचन्द्र का ही रूप है'।

कह चुके हैं कि महेन्द्रनाथ के मन में संन्यासियों और भक्तों के प्रति महान श्रद्धा थी। वे संन्यासी को गृहस्थ से महान समझते थे। उनका विचार था कि समस्त वस्तुओं को त्याग कर ईश्वरार्पित जीवन बिताना ही उत्तम आदर्श है। यदि ईश्वर का साक्षात्कार जीवन का उद्देश्य हो तो उसको प्राप्ति वे ही कर सकते हैं जो संसार से वीतराग होकर अनन्य भाव से ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। गृहस्थ भले ही भक्त हो पर उसका मन संसार की अनेक गुत्थियों में उलझा रहता है। इसलिये गृहस्थ की तुलना सन्यासो से नहीं की जा सकती। महेन्द्रनाथ का विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण देव के समस्त उपदेशों का सार वैराग्य है। इसीलिये वे संन्यासी को देखते ही प्रफुल्ल हो उठते और घंटों उनकी सेवा करते। वे अपने मन में सोचते, "एक महात्मा पधारे हैं उनके रूप में स्वयं भगवान ही मेरे पास आये हैं। तो क्या मैं उनके लिये अपना नहाना-खाना भी नहीं त्याग सकता? यदि

मैं इतना भी न कर सका तो सब कुछ व्यर्थ है ।" वे बड़े प्रेम से संन्यासियों को भोजन कराते और उन्हें पंखा झलते हुए विचार करते, "मैं भगवान को भोजन करा रहा हूँ, मैं उनकी पूजा कर रहा हूँ ।"

अपने युग के महत्तर पुरुषों का साहचर्य पाने के बाद भी महेन्द्रनाथ में अहंकार का लेश नहीं था। श्रीरामकृष्ण देव ने उन्हें संसार में सेवक के समान रहने का उपदेश दिया था। उन्होंने इसे पूर्णतः अपने जीवन में उतारा। वे स्वयं को सबका सेवक समझते थे तथा सबकी सेवा करने के लिये तत्पर रहा करते थे। किन्तु उन्होंने स्वयं किसी की सेवा स्वीकार नहीं की। वे लगभग ४० वर्ष तक युवकों को ईश्वर और धर्म का रहस्य समझाते रहे पर उन्होंने कभी किसी को आध्यात्मिक उपदेश या सलाह नहीं दी। वे अप्रत्यक्ष विधि से हृदयस्पर्शी शैली में आध्यात्मिक उन्नयन के पथ का संकेत दे दिया करते थे। उनके शब्द सीधे हृदय से निकलने के कारण अत्यन्त प्रभावी होते थे और उनमें पाषाण-हृदय को भी पिघला देने की क्षमता थी।

वे अतिशय विनम्र थे। जीवन भर उनके मुख से कोई कड़ा शब्द नहीं निकला। विपत्तियों की आँधी में भी वे शान्त, अविचलित और तटस्थ बने रहे। स्नायुविक पीड़ा को सहते रहने पर भी वे सदैव भक्तों की सेवा करने के लिये आतुर रहे। उनका जीवन वेदवाक्य का जीवन था। श्रीरामकृष्णदेव ने संसार में अनासक्त रहने का उपदेश दिया था। महेन्द्रनाथ इस महान मंत्र के भाष्य स्वरूप थे।

# अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द

प्राध्यापक देवेन्द्र कुमार वर्मा

( गतांक से आगे )

( ३ )

पहले पहल स्वामीजी को जहाज के यात्री-जीवन के अभ्यस्त होने में कुछ कठिनाई हुई। सर्वप्रथम तो इतने समानों की देखभाल और सुरक्षा करना उनके लिए कष्ट साध्य कार्य था। दूसरी बात यह कि यात्रा में खान-पान का तरीका पूरे तौर पर पश्चिमी ढंग का था। काँटे छुरी की सहायता से भोजन करना, निःस्वाद सूप तथा अरुचिकर खाद्य पदार्थों का सेवन करना किसी यौगिक साधना से कम न था। पर उनमें अपने को परिस्थिति के अनुकुल ढाल लेने की अद्भुत क्षमता थी। शीघ्र ही वे इस वातावरण के आदी हो गये और अपने को पाश्चात्य खान-पान के तौर-तरीकों में दीक्षित कर लिया। यात्रीगण अधिकांश विदेशी थे। वे स्वामीजी की भव्य आकृति और आकर्षक वेशभूषा से बड़े प्रभावित हुए थे और उनसे परिचय प्राप्त करने का लोभ संवरण न कर सके थे। अनेक यात्री अंग्रेज थे। विजेता जाति होने के कारण भारतीयों के प्रति उनके हृदय में घृणा और उपेक्षा की भावनाएँ थी। पर वे भी इस तरुण संन्यासी

की निर्भीकता, स्पष्टवादिता, तेजस्विता और सर्वोपरि उनके प्रकांड ज्ञान को देख आश्चर्य चकित हुए थे और उनके प्रति आदर की भावना बढ़ चली थी। जहाज के कप्तान एक अंग्रेजी थे। अधेड़ उम्र के वे व्यक्ति बड़े हँस-मुख स्वभाव के थे। स्वामी जी की बाल सुलभ सरलता और उनके मुक्त हास्य ने अनायास ही उन्हें उनकी ओर अकर्षित किया था। धर्मोपदेशकों के प्रति कप्तान को वितृष्णा-सी थी। अपने पादरियों को गंभीरता की मूर्ति बने, मुहर्रमी सूरत बनाये हुए उन्होंने देखा था। इसके विपरीत उन्होंने स्वामीजी को सदैव आनन्द में मग्न, निर्मल हँसी बिखेरते हुए पाया। इसीलिये उनके प्रति इनका लगाव सा हो गया था। जब भी ये समय पाते, स्वामीजी के पास चले आते और बैठकर निर्मल विनोद में मग्न हो जाते। स्वामीजी के सान्निध्य में उन्हें अप्रतिम आनन्द प्राप्त होता था। उन्होंने उन्हें जहाज में घुमाकर उसके सब कल-पुर्जों की जानकारी दी थी और उनकी क्रियाओं से अवगत कराया था। प्रत्येक नवीन ज्ञान को आत्मसात् करने के लिए स्वामीजी का उर्वर मस्तिष्क सदैव प्रस्तुत रहता था। मन को एकाग्र करने की अद्भुत क्षमता के फलस्वरूप वे किसी भी विषय के ज्ञान को शीघ्र ही संपादित कर लेते थे।

पर सबको सदैव प्रसन्न-चित्त और हँसमुख दिखाई देने वाले स्वामीजी का हृदय अन्तर्वेदना से पूरित था। उनकी आँखों के सामने अपने देशवासियों का दुर्दशापूर्ण स्वरूप सदैव छाया रहता। और तब वे विजेता अंग्रेज जाति

के प्रति, जिसने देश को तहस नहस कर डाला था, अपने आक्रोश को न दबा पाते। ज्योत्स्ना भरी रात्रि में वे डेक पर एकाकी विचरण करते रहते। उधर तुमुल गर्जन करता हुआ क्षुब्ध सागर और इधर हाहाकार करता हुआ उनका क्षुब्ध हृदय। चन्द्रमा की स्निग्ध किरणें भी उनके तप्त हृदय को शीतल न कर पातीं। कितनी ही रातें उन्होंने बिना नींद के काट दी थीं।

बंबई से जहाज कोलंबो पहुँचा। वहाँ एक दिन के लिये रुका। इस बीच में स्वामीजी ने अन्य लोगों के साथ मोटर गाड़ी से शहर में भ्रमण किया। वहाँ देखी गई सारी चीजों में सबसे अधिक आकर्षित किया भगवान बुद्ध की निर्वाणावस्था की लेटी हुई विशाल प्रतिमा ने। कांडी वहाँ से कुछ दूर एक शहर है जो बौद्ध धर्म के प्रचार का सुदृढ़ केन्द्र था। स्वामीजी की इच्छा होते हुए भी समयाभाव के कारण वे वहाँ न जा पाये। दूसरा मुकाम पेनांग में था जो मलय प्रायद्वीप में एक छोटा सा टापू है। यहाँ के निवासी किसी जमाने में खूँख्वार समुद्री डाकू थे। जहाज वाले इनके नाम से काँपा करते। पर आधुनिक तोपों और शस्त्रों से युक्त जहाजों को लूटने में असमर्थ पा इन्होंने डकैती का धंधा छोड़ शान्तिपूर्ण कार्यों को अपनाया। पेनांग से सिंगापुर जाते समय जहाज के कप्तान ने स्वामीजी को सुदूर सुमात्रा द्वीप में उच्च शैल-शिखरों के बीच अवस्थित समुद्री डाकुओं के अनेक पुराने अड्डे बतलाये। सिंगापुर उस समय स्टेटस सेटलमेंट की राजधानी थी। वहाँ का सुन्दर

वनस्पति-उद्यान और अजायबघर देख स्वामीजी बड़े प्रसन्न हुये।

इसके बाद का मुकाम हांगकांग में था। जहाज के लंगर डालते ही सैकड़ों चीनी डोंगियाँ यात्रियों को तट पर ले जाने के लिए जहाज की ओर दौड़ पड़ीं। डोंगियों की यह भागदौड़ स्वामीजी के लिये बड़े कुतूहल का विषय था। उन्होंने देखा कि दो-दो पतवारों वाली ये डोंगियाँ बड़ी विचित्र सी थीं। पूरा माँझी-परिवार नाव पर ही निवास करता था। नाव खेने का कार्य प्रायः स्त्रियाँ ही करती थीं। बच्चे को पीठ पर कपड़े से बाँधी हुई कभी तो वे फुर्ती से सामान लुढ़का रही थीं तो कभी एक नाव से दूसरे नाव में छलाँग लगा रही थीं। सागर के वृक्ष पर निरंतर होड़ लगाती हुई मोटर बोटों और नावों के बीच माँझी-पत्नियों का साहसपूर्ण कौशल स्वामीजी को चकित किये जा रहा था। पर उन्हें सबसे अधिक चकित किया उन चीनी बाल-गोपालों ने, जो इस भीषण भागदौड़ से सर्वदा अनभिज्ञ, अपनी माँ की पीठ पर बँधे, दार्शनिक की भाँति निश्चिन्त थे। यद्यपि उनकी माताओं की उछल-कूद में उनके मस्तक-भंजन होने का भय प्रतिपल समाया हुआ था तथापि वे इससे सर्वथा बेखबर, अपनी माँ द्वारा दी गई रोटी के टुकड़े की शल्यक्रिया में ही मस्त थे।

हांगकांग उन्हें बड़ा सुन्दर शहर लगा। सारा शहर पहाड़ की चोटी तथा ढलाई पर बसा हुआ है। पहाड़ की चढ़ाई में जब ट्राम गाड़ी सीधी चढ़ती, तब शरीर में

सिहरन सी होती थी। गाड़ी लोहे के तारों द्वारा, भाप की शक्ति से ऊपर खींची जाती। चोटी पर का भाग नीचे बसे हुए शहर की अपेक्षा काफी ठंडा था। हांगकांग में तीन दिन रहकर स्वामीजी कैंटन देखने गये। यह शहर हांगकांग से अस्सी मील दूर सिक्यांग नदी के तट पर बसा है। नदी के विशाल वक्षस्थल पर बड़े बड़े स्टीमर आ जा रहे थे। हांगकांग से वे स्टीमर द्वारा ही कैंटन पहुँचे। वहाँ के व्यस्त जीवन को देखकर वे चकित-से रह गए। नदी नावों से पट सी गई थी। वहाँ नावें केवल आवागमन और व्यापार के ही उपयोग में नहीं लाई जाती थीं वरन् बहुत से नावों में लोग घरों की भाँति निवास करते थे। चारों ओर बरामदों से युक्त मानों दुमंजिले, तिमंजिले मकान नदी के वक्षस्थल पर तैरते हुए दिखाई देते थे। नदी के दोनों किनारों पर शहर मीलों दूर तक बसा हुआ था। यह विशाल जनसमूह युक्त, व्यस्तता और चहल पहल से भरा शहर बड़ा गंदा था। आचार-विचारहीन चीनियों ने स्नान और सफाई को तिलांजलि दे रखी थी। प्रत्येक घर में नीचे के हिस्से में दूकानें थीं और ऊपर लोग रहते थे। गलियाँ इतनी सकरी कि हाथ फैलाने से दोनों ओर की दूकानें छू जावें। हर दस कदम पर मांस की दूकाने थीं जहाँ कहीं कहीं कुत्ते और बिल्लियों का मांस भी मिलता था। यह शहर देख उनका मन वितृष्णा से भर गया।

उन्होंने देखा कि संभ्रान्त और उच्च परिवार की चीनी

महिलाएँ बाहर दिखाई नहीं पड़तीं। केवल निम्न वर्ग की स्त्रियाँ ही बाहर काम करती हैं। उत्तरी भारत की तरह यहाँ भी उन्होंने परदे की प्रथा पाई। स्त्रियों के पैर बच्चों के पैरों से भी छोटे थे। जब वे चलती थीं तो लगता था मानों लड़खड़ा रही हैं।

वहाँ उन्होंने कई चीनी मंदिरों के भी दर्शन किए। सबसे बड़ा मंदिर बौद्ध मंदिर था। प्रथम बौद्ध सम्राट् और सबसे पहले बौद्ध धर्म स्वीकार करने वाले पाँच सौ अनुयायियों के स्मारक के रूप में वह निर्मित किया गया था। मंदिर के बीचों बीच भगवान बुद्ध की प्रतिमा थी। नीचे सम्राट् की, और दोनों ओर कतार से शिष्यों की मूर्तियाँ थीं। लकड़ी की इन मूर्तियों में नक्काशी का काम बड़ी खूबसूरती से किया गया था। स्वामीजी ने पाया कि प्राचीन भारतीय और बौद्ध मदिर की शिल्पकला में अद्भुत साम्य है।

स्वामीजी के हृदयमें चीनी विहार देखने की बड़ी उत्कट इच्छा थी। उन्होंने इन गुप्त विहारों के बारे में पहले से सुन रखा था। उन्होंने अपनी इच्छा दुभाषिये से व्यक्त की। उनकी आशा के विपरीत उसने बताया कि लोगों का, विशेषकर विदेशियों का, इन स्थानों में प्रवेश निषिद्ध है। वहाँ जाना अपनी जान को जोखिम में डालना है, क्योंकि वहाँ के लोग बड़ी खूँखार प्रकृति के हैं। यह सुनकर स्वामी-जी की इच्छा शान्त होने के बदले और भी बलवती हुई और उन्होंने दुभाषिये को वहाँ तक चलने के लिए समझा बुझाकर किसी तरह राजी कर लिया। दुभाषिया सहमता

हुआ उनको और अन्य यात्रियों को लेकर आगे बढ़ा। वे बिहार के निकट पहुँच ही पाये थे कि दुभाषिया जोरों से चिल्ला उठा, "भागो, भागो, वे लोग आ रहे हैं। जान से मार डालेंगे।" उन सबने देखा कि सचमुच ही क्रोध से बौखलाए हुए तीन-चार लोग हाथों में तलवार लिये चले आ रहे हैं। यह देखते ही उनके देवता कूच कर गये। स्वामीजी और दुभाषिये को छोड़ बाकी लोग सिर पर पैर रखकर जिधर बन पड़ा भागे। उनको करीब आया देख दुभाषिया भी भागने की फेर में था। पर स्वामीजी ने उसे पकड़ रखा और बोले, "तुम ऐसे भाग नहीं सकोगे। बतलाओ योगी को चीनी भाषा में क्या कहते हैं?" उसके बतलाने पर स्वामीजी ने चिल्लाकर उनसे कहा, "मैं हिन्दू योगी हूँ हिन्दू योगी।" इन शब्दों ने जादू-सा असर किया। वे लोग यह सुनते ही तलवार एक ओर फेंक स्वामीजी के चरणों में गिर पड़े और उठकर दोनों हाथ फैलाकर बोले, "कवच, कवच।" स्वामीजी पहले समझ न पाये कि ये चाहते क्या हैं। उन्होंने अन्दाज लगाया, हो न हो ये ताबीज चाहते हों। शंका दूर करने के लिये उन्होंने दुभाषिये से इसका अभिप्राय पूछा। दुभाषिया दूर खड़ा हुआ आश्चर्य से आँखें फाड़े यह अनहोनी घटना देख रहा था। उसने वहीं से कहा, "ये भूत-प्रेतों से अपनी रक्षा के लिए कवच चाहते हैं।" स्वामीजी इस अप्रत्याशित घटना के लिए तैयार न थे। अचानक उन्हें एक उपाय सूझा। उन्होंने अपनी जेब से एक कागज निकाला। उसके कई टुकड़े किए। फिर प्रत्येक

में ॐ लिखकर उन्होंने प्रत्येक को दिया। उन लोगों ने उसे सिर से लगाया और बड़े आदर के साथ स्वामीजी को अंदर ले गए।

बिहार के गुह्य स्थान में उन्होंने स्वामीजी को संस्कृत की अनेक प्राचीन पांडुलिपियाँ बतलाईं। स्वामीजी को यह देखकर महान् आश्चर्य हुआ कि उसकी लिपि बँगला की लिपि से मिलती जुलती थी। साथ ही उन्हें उस मन्दिर का भी स्मरण हो आया जहाँ उन्होंने पाँच सौ भिक्षुओं की मूर्तियाँ देखी थीं, जिनके चेहरे बंगालियों के से दीख पड़ते थे। इससे उनका विश्वास दृढ़तर हो चला कि किसी समय बंगाल और चीन के बीच सभ्यता और संस्कृति का काफी आदान-प्रदान हुआ होगा और भारी संख्या में बंगाली बौद्ध भिक्षुओं ने यहाँ आकर तथागत की अमृतमयी वाणी का प्रचार किया होगा।

कंटन से लौटकर वे हांगकांग वापस आए और जापान की ओर रवाना हुए। जापान में उन्होंने अनेक स्थल देखे। नागासाकी, कोबे, ओसाका, कीटो और टोकियो देखते हुए वे याकोहामा पहुँचे। इस छोटे से महाद्वीप ने उनका मन हर लिया। वहाँ के शहरों की साफ सुथरी, चौड़ी और सीधी सड़कें, सुव्यवस्थित छोटे छोटे मकान और उनके पीछे मनोहर बगीचे, पाइन के हरे-भरे वृक्षों से युक्त हरितमा युक्त पहाड़ियाँ मन को आल्हादित करने वाली थीं। मानव, प्रकृति के साथ कितना तादात्म्य कर सकता है यह उन्होंने जापान में देखा।

उन्होंने पाया कि स्वच्छता में संसार का कोई देश जापान की बराबरी नहीं कर सकता।

साथ ही, उन्होंने वहाँ के लोगों में अटूट आत्मनिर्भरता पाई। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसका निर्माण जापानी न करते हों। दैनन्दिन उपयोग में आने वाली दियासलाई से लेकर सेना के अस्त्र-शस्त्रों तक का निर्माण करने वाले कारखाने वहाँ थे।

यहाँ भी उन्होंने बहुत से मंदिर देखे और आश्चर्यजनक रूप से पाया कि प्रत्येक मंदिर में संस्कृत के कुछ मंत्र प्राचीन बंग लिपि में लिखे गये हैं। कुछ पुरोहितगण संस्कृत भी जानते थे और उनकी भारत के प्रति अगाध श्रद्धा थी। पर अपने देश को ऊपर उठाने की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी। अपने राष्ट्र और समाज के प्रति उनका प्रेम अप्रतिम था। स्वामीजी यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए। पर दूसरी ओर उनका ध्यान अपने देश की अपढ़, दरिद्र और निरीह जनता की ओर दौड़ गया जो गुलामी की जंजीरों में जकड़े हुए घुटन की साँस ले रहे थे। उन पंडितों और पुरोहितों के प्रति उनका हृदय वितृष्णा और क्षोभ से भर उठा जिन्होंने अपनी सुख-सुविधा के लिए समाज के लोगों का खून निचोड़ा था। वे अपनी भावनाएँ दबा न पाये। उन्होंने अपने मद्रास के शिष्यों को ज्वलन्त भाषा में लिखा, "इस छोटे से पत्र में मैं जापानियों के बारे में अपनी भावनाएँ व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। मेरी मात्र यही इच्छा है कि

प्रतिवर्ष हमारे नवयुवकों को अधिकाधिक संख्या में चीन और जापान में आना चाहिए। जापानी लोगों के लिए आज भारतवर्ष उच्चतम और श्रेष्ठतम वस्तुओं का स्वप्न-राज्य है। और तुम लोग क्या कर रहे हो ? व्यर्थ की बकवास करने वालो ! तुम लोग क्या हो ? आओ और इन लोगों को देखो और जाकर शर्म से अपनी सूरत छिपा लो। सठियाई बुद्धिवालो ! तुम्हारी तो देश से बाहर जाते ही जात चली जायेगी। सैकड़ों वर्षों से अपनी खोपड़ी में अंधविश्वास के कूड़ा-कर्कट की सतत वृद्धि करते हुए, आहार तथा छुआ-छूत के विवाद में ही अपनी समस्त शक्ति को नष्ट करते हुए, युगों के सामाजिक अत्याचार से सारी मानवता का गला घोंटने वाले ! बताओ तो भला तुम कौन हो ? और इस समय कर ही क्या रहे हो ?.......

आओ, मनुष्य बनो और पाखंडी पुरोहितों को, जो सदैव प्रगति के मार्ग में रोड़े बनते रहे हैं, ठोकरें मारकर निकाल दो। क्योंकि उनका सुधार कभी नहीं होगा। उनके हृदय कभी विशाल न होंगे। सैकड़ों वर्षों के अंधविश्वासों और अत्याचारों ने ही उन्हें जन्म दिया है। पहले पुरोहिती पाखंड को जड़मूल से निकाल फेंको। आओ, मनुष्य बनो। कूप मंडूकता छोड़ो और बाहर की ओर दृष्टि डालो। देखो, अन्य देश किस तरह आगे बढ़ रहे हैं। क्या तुम मनुष्यों से प्रेम करते हो ? क्या तुम्हें अपने देश से प्रेम है? यदि हाँ, तो आओ, हमलोग उन्नति और प्रगति के मार्ग में अग्रसर हों। पीछे मुड़ कर मत देखो। अत्यन्त निकट के

प्रिय संबन्धी रोते हैं, तो रोने दो। पीछे देखो ही मत। केवल आगे बढ़ते जाओ।

"भारतमाता कम से कम एक हजार युवकों का बलिदान चाहती है — मेधा वाले युवकों का, पशुओं का नहीं! ....मद्रास ऐसे कितने निःस्वार्थी और सच्चे युवक देने को तैयार है, जो गरीबों के साथ सहानुभूति रखने के लिए, भूखों को अन्न देने के लिए और जन साधारण में नव जागृति का प्रचार करने के लिए प्राणों की भी बाजी लगाकर प्रयत्न करने को तैयार हैं तथा जो उन लोगों को भी मानवता का पाठ पढ़ाने के लिए तैयार हैं जिन्हें तुम्हारे पूर्वजों ने अत्याचार से पशुतुल्य बना दिया है?"

स्वामीजी की अन्तर्वेदना ही पत्र के माध्यम से मुखरित हो उठी थी। अपने देशवासियों के प्रति तिरस्कार और उपालंभ में उनका, उनके प्रति अगाध प्रेम ही प्रकट हुआ था। दूसरे देशों के प्रगति की ओर बढ़ते चरण को देख और उनकी तुलना में अपने देश की हीनावस्था का स्मरण कर वे व्यथित हो उठे थे और अपने नवयुवकों को जाग्रत् करने के लिए कटिबद्ध हुए थे। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हृदय को आन्दोलित कर देने वाले इस पत्र ने उनके मद्रास के शिष्यों के भीतर एक नये जीवन का संचार किया था और वे देशोद्धार के लिए नवीन प्रेरणा से अग्रसर हुए थे।

याकोहामा से जहाज प्रशांत महासागर के उत्तरी हिस्से से होता हुआ वैंकुवर पहुँचा। रास्ते में उन्हें कड़कती

ठंड का सामना करना पड़ा। यद्यपि खेतड़ी नरेश ने उनके लिए पर्याप्त वस्त्रों की व्यवस्था की थी, पर वे वस्त्र गरमी के मौसम के ही उपयुक्त थे। गरम कपड़ों के अभाव में उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। वे किसी तरह वैंकुवर से रेलद्वारा कैनेडा होते हुए शिकागो पहुँचे। सामानों की देखभाल करने में अनभ्यस्तता और रुपये-पैसे के प्रति निःस्पृहता से उन्हें इस तीन दिन की रेलयात्रा में बड़ी परेशानी हुई। स्थान-स्थान पर कुलियों ने उनसे लूट-खसोट की और उन्हें विदेशी जान प्रत्येक चीज के लिए बेभाव पैसा ऐंठा गया। पैसे के बारे में वे उदार तो थे ही। पश्चिम में पैर रखते ही उन्हें धूर्तता, बेईमानी, भीषण व्यस्तता और तुमुल कोलाहलता का जो स्वरूप दिखा, उसने उनकी शान्ति हर ली। शिकागो पहुँचने पर तो वे अवाक् ही रह गये। अपार जन-सागर प्लैट फार्म पर उमड़ा पड़ा था। विश्व-प्रदर्शनी के कारण अत्यधिक भीड़ थी। बड़ी मुश्किल से वे स्टेशन से निकल पाये। होटलों में जगह नहीं थी। कई जगह उन्हें रंग-नीति का शिकार होना पड़ा। बड़ी कोशिश के बाद एक होटल में जगह मिली। जब कुलियों ने कमरे में उनका सामान रख दिया तब कमरा बन्द करके उन्होंने निश्चिंतता की साँस ली।

(क्रमशः)

———

# मानव वाटिका के सुरभित पुष्प

## —शरद चन्द्र पेंठाकर

### १. ज्ञानयोग का रहस्य

ब्रह्मदेश के राजा थिबा महान् ज्ञानयोगी थे। एक बार एक अहंकारी भिक्षुक उनके पास आया और बोला, "राजन् मैं अनेक वर्षों से अखण्ड तप-ध्यान करते आ रहा हूँ, किंतु आज तक मुझे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई; जबकि आपको राजवैभव में लिप्त होने के बावजूद भी, मैंने सुना है, ज्ञानयोग की प्राप्ति हुई है। इसका क्या कारण है?"

थिबा बोले, "भिक्षुक, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैं उचित समय पर दूँगा। मैं तुम्हारे प्रश्न से प्रसन्न हूँ। यह दीपक लेकर तुम मेरे अन्तःपुर में निस्संकोच प्रवेश करो और अपनी मनचाही चीज प्राप्त करो। तुम्हारे लिए कोई रोक-टोक नहीं है। किंतु ध्यान रहे, यह दीपक बुझने न पावे, अन्यथा तुम्हें पाप का फल भोगना होगा।"

वह भिक्षुक राजा के अंतःपुर में समीप ही रखा दीपक लेकर गया और कुछ ही क्षणों के उपरांत राजा के पास लौट आया। थिबा ने उससे पूछा, "कहो बंधु, तुम्हें मेरे अंतःपुर में आनंद प्राप्त हुआ? खाद्य-पक्वान, मदिरा, रमणियाँ - ये सारी चीजें तो तुम्हें सुलभता से प्राप्त हुई होंगी?"

"राजन्, मेरा अहोभाग्य ! जो आपने मेरे लिए राज-वैभव के सारे द्वार खुले रख छोड़े थे, किन्तु खाद्यान्न मदिरा, नृत्य, संगीत इन सारी चीजों का आस्वाद लेने के बावजूद भी मेरे मन की तृप्ति नहीं हुई, क्योंकि मेरा सारा ध्यान आप के द्वारा दिये हुए दीपक की ओर था। मन में सदैव यही आशंका रहती कि कहीं यह दीपक बुझने न पावे।" वह भिक्षुक बोला।

"बस यही कारण है, बंधु, कि प्रत्येक को ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। सुखोपभोग के साथ-साथ यदि आत्मीय उन्नति पर हम ध्यान देते रहें, तो निस्संदेह ज्ञान की प्राप्ति होगी। मेरे ज्ञानयोग का यही रहस्य है।" थिबा ने स्पष्टीकरण किया।

## २. संयम और सिद्धि

मिस्र देश में जुन्नून नामक एक महात्मा हो गये हैं। उनके पास प्रसिद्ध मुसलमान संत यूसुफ हुसैन धर्म की दीक्षा लेने गये। तब महात्मा जुन्नून ने उन्हें एक छोटा सा बक्स देते हुए कहा—"मेरा एक मित्र यहाँ से दूर, नील नदी के किनारे रहता है; इस बक्स को बड़ी सावधानी से ले जाकर उसे दे आओ, तब आकर दीक्षा लेना।"

रास्ते में यूसुफ़ हुसैन ने सोचा कि जब बक्स में ताला नहीं लगा है, तो इसे खोलकर देखा जाय। और कौतूहल वश उन्होंने जब बक्स का ढक्कन खोला, तो उसमें

से एक चूहा निकलकर भागा। उस बक्स में चूहे के अतिरिक्त और कुछ न था।

अब यूसुफ़हुसैन को बड़ा ही पछतावा हुआ कि उन्होंने व्यर्थ ही ढक्कन खोला, किन्तु अब पछताने से कोई लाभ न था आखिर उन्होंने वह खाली बक्स ही महात्मा जुन्नून के संत मित्र को दिया।

बक्स खोलने पर जब उन संत मित्र को उसमें कुछ भी न दिखाई दिया, तो वे बोले, "महात्मा जुन्नून तुम्हें दीक्षा नहीं देंगे, क्योंकि तुममें संयम नहीं है। उन्होंने इस बक्स में जरूर कुछ न कुछ भेजा होगा। सच-सच बताओ, इसमें उन्होंने कौन सी वस्तु भेजी थी।" यूसुफ़ ने सही-सही बात बताकर उनसे माफी माँगी। उन संत-मित्र ने महात्मा जुन्नून से ही माफी माँगने के लिए कहा।

हताश यूसुफ़ हुसैन, महात्मा जुन्नून के पास लौट आये और उन्होंने सारा वृतांत बताकर उनसे क्षमा माँगी। जुन्नून बोले, "यूसुफ़, अभी तुम परम ज्ञान के अधिकारी नहीं हो। मैंने तुम्हें एक चूहा सौंपा था, जिसे तुमने गँवा दिया। तब भला धर्म-ज्ञान जैसी अमूल्य निधि को तुम कैसे सुरक्षित रख पाओगे? उसके लिये तुम्हें अतीव संयम की जरूरत है। जाओ, अपने चित्त को वश में करने का अभ्यास करो और पुनः आओ, क्योंकि संयम के बिना सिद्धि दुर्लभ है।"

यूसुफ़ हुसैन अपने निवास-स्थान को वापस लौटे और आत्मसंयम का अभ्यास करने लगे। कई वर्षों के पश्चात्

वे पूर्णविश्वास के साथ पुनः महात्मा जुन्नून के पास गये और इस बार उनका मनोरथ सफल हुआ।

३. हीन कौन ?

एक बार ईरानी संत शेख सादी मक्का की ओर पैदल जा रहे थे। गर्मी के दिन थे और बालू गर्म हो गई थी अतः उनके पैर उस तप्त बालुका से जले जा रहे थे, जबकि अन्य यात्री घोड़ों, खच्चरों और ऊँटों पर यात्रा कर रहे थे। यह देख उनके मन में विचार उठा कि अल्लाह भी सबको समान दृष्टि से नहीं देखता, जभी तो प्रत्येक यात्री वाहनों पर चढ़कर जा रहा है जब कि उन्हें पैदल ही जाना पड़ रहा है।

इतने में उन्हें एक फकीर, जिसके दोनों पैर कटे हुए थे, हाथ और जांघ के बल पर चलता हुआ दिखाई दिया। उन्हें यह देख बड़ी ही करुणा हुई; साथ ही पश्चाताप भी हुआ कि थोड़ी ही देर पूर्व वे व्यर्थ ही अल्लाह को कोस रहे थे। वे मन ही मन बोले, "या खुदा ! तूने मुझे सहस्रों में हीन बनाया, किन्तु एक पंगु फकीर से तो निश्चित ही तूने मुझे भला बनाया। मुझे माफ़ कर, जो तेरी करनी के बाबत मेरे मन में कुविचार उत्पन्न हुए थे।"

४. सच्ची प्रार्थना

एक गाड़ीवान ने यहूदी धर्माचार्य रबी बर्डिक्टेव के पास आकर पूछा, "महाराज मैं एक गाँव से दूसरे गाँव गाड़ी हाँका करता हूँ। यह पेशा मुझे पसंद नहीं, क्योंकि

मैं भगवान की प्रार्थना के लिए सेनेगाग (मंदिर) जाने को नियमित समय नहीं दे पाता। मुझे अब यह पेशा छोड़ देने के अलावा अन्य कोई रास्ता सूझ ही नहीं रहा है।"

इसपर रबी ने पूछा, "क्या तुम्हारी गरीब, बूढ़े यात्रियों से कभी भेंट होती है।" "जी हाँ, मुझे गरीब, दीन-दुखी यात्री अवश्य दिखाई देते हैं और मैं उन्हें मुफ्त में सवारी भी दिया करता हूँ।" गाड़ीवान ने जवाब दिया।

"तब तुम इस पेशे को कदापि न छोड़ो। तुम इस पेशे में रहकर ही भगवान की प्रार्थना करते आ रहे हो, क्योंकि दीन-दुखियों की सेवा ही भगवान की सेवा है और यही भगवान की सच्ची प्रार्थना है।"

## ५. आदमी की कीमत

तैमूरलंग की क्रूरता से सारी प्रजा त्रस्त थी। उस लँगड़े नाटे, महाकुरूप नरपिशाच ने न जाने कितने देशों को रौंद डाला था, न जाने कितने घरों को उजाड़ दिया था। ऐसे क्रूर कराल के सामने एक बार बंदियों को लाया गया और उनके भाग्य का निर्णय दिया जाने लगा। उन बंदियों में तुर्किस्तान का प्रसिद्ध कवि अहमदी भी था। उसे जब पकड़कर तैमूरलंग के पास लाया गया, तो तैमूर ने दो गुलामों की ओर इंगित करते हुए अहमदी से कहा, "मैंने सुना है, कवि लोग बड़े पारखी होते हैं। भला बताओ तो इन दो गुलामों की क्या कीमत है?"

"इन दोनों में से कोई भी चार सौ अशर्फियों से कम कीमत का नहीं है।" अहमदी ने जबाब दिया। यह सुन तैमूर को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसने पुनः प्रश्न किया, "भला मेरी क्या कीमत है?"

अमहदीं स्पष्टवादी एवं स्वाभिमानी था। उसने जवाब दिया, "आपकी कीमत सिर्फ चौबीस अशर्फियाँ हैं।" "क्या मेरी कीमत सिर्फ चौबीस अशर्फियाँ हैं?" साश्चर्य तैमूर बोला, "इतने मूल्य की तो यह मेरी सदरी ही है।"

"जी हाँ मैंने उसीकी कीमत तो लगाई है।" "स्वाभिमानी कवि ने जवाब दिया। "याने मेरी स्वयं की कोई भी कीमत नहीं?" तैमूर ने प्रतिप्रश्न किया।

"जी नहीं। जिस व्यक्ति में दया तनिक-मात्र भी नहीं, भला ऐसे दुष्ट को 'मनुष्य' की संज्ञा भी दी जा सकती है? और फिर उसकी कीमत भी क्या होगी?" तैमूर के बारे में कही गई बात सत्य थी, अतः वह चुपचाप सुनता रहा। उसे दंड तो वह दे न सकता था, क्योंकि वैसा करने से अहमदी द्वारा आँकी गई कीमत सही मानी जा सकती थी, अतः उसने अहमदी को 'पागल' करार कर रिहाकर दिया।

## ६. उपदेश तथा आचरण में अन्तर

कंबोज के सम्राट् तिङ्ग भिङ्ग की राजसभा में एक दिन एक बौद्ध भिक्षुक आया और कहने लगा, "महाराज! मैं

त्रिपिटिकाचार्य हूँ। पन्द्रह वर्ष तक सारे बौद्ध जगत् का तीर्थाटन करके मैंने सद्धर्म के गूढ़ तत्त्वों का रहस्योद्‌घाटन किया है। मैं आपके राज्य का पट्ट पुरोहित बनने की कामना से आया हूँ। मेरी इच्छा है कि कंबोज का शासन भगवान् के आदेशानुसार संचालित हो।

यह सुन सम्राट् मुस्कराये और बोले, "आपकी सदिच्छा मंगलमयी है, किंतु आपसे एक प्रार्थना है कि आप धर्मग्रन्थों की एक और आवृत्ति कर डाले।" भिक्षुक को क्रोध आया, किंतु साक्षात् सम्राट् जानकर वह अपने क्रोध को व्यक्त न कर सका। उसने सोचा, क्यों न एक आवृत्ति और करलूँ ? सम्राट् को रुष्ट कर राज, पुरोहित के प्रतिष्ठित पद को क्यों हाथ से जाने दूँ ?"

दूसरे वर्ष वह सम्राट् के सम्मुख उपस्थित हुआ तो सम्राट् ने फिर कहा — "भगवन्, एकान्त-सेवन के साथ एक बार और धर्मग्रन्थों का पारायण करें, तो श्रेयस्कर होगा।

भिक्षुक के क्रोध की सीमा न रही, किंतु सामने सम्राट् होने के कारण कुछ कर न सकता था। अपमान के दंश से पीड़ित एकान्तवास के लिए वह नदी-तट पर गया। कोलाहल से दूर नदीतट पर प्रार्थना करने में उसे बड़ा ही आनंद प्राप्त हुआ। अब तो उसने अपना आसन वहीं जमाया और एकाग्रचित्त से भगवान की प्रार्थना में लीन रहने लगा।

साल भर बाद सम्राट् तिङ्गभिङ्ग अपनी समस्त प्रजा के साथ नदीतट पर उपस्थित हुए। उन्होंने भिक्षुक को

तन-मन की सुध भूले, आनंदातिरेक में भगवान की प्रार्थना में लीन पाया। उन्होंने प्रार्थना की, "भगवान्, चलिये, धर्माचार्य के आसन को सुशोभित कीजिये।"

भिक्षुक की धर्माचार्य बनने की महत्त्वाकांक्षा भस्मसात् हो चुकी थी, पांडित्य के अहंकार का स्थान आत्मज्ञान के आनंद ने ले लिया था। उसके अधरों पर मंद मुस्कान बिखर गई। वह बोला, "राजन्, सद्धर्म उपदेश की नहीं आचरण की वस्तु है। उपदेश में अहंकार है और आचरण में आनन्द। मैंने यहाँ आकर आचरण में ही आनन्द पाया। भगवान् के आदेश बड़े स्पष्ट हैं। वहाँ आचार्य की जरूरत नहीं। भगवान् ने एक ही वाक्य में सब कह दिया है—"आपदीपोभव' अर्थात् अब अपने स्वयं के दीपक बनो'। मुझे राजपुरोहित का पद नहीं चाहिए।"

७. नम्रता का परिणाम

एक बार चीनी संत चाङ्ग-चुआङ्ग बीमार पड़े, तब उन्हें देखने लाओत्से गये। लाओत्से ने उन्हें कुछ उपदेश देने की विनती की। चाङ्ग-चुआङ्ग ने पूछा, "जब कोई अपने पुराने गाँव जाता है, तो गाँव की सीमा पर पहुँचते ही अपनी गाड़ी से क्यों उतर जाता है?" लाओत्से ने जवाब दिया, "इस प्रथा का यह तात्पर्य है कि मनुष्य को अपना उद्गम न भूल जाना चाहिए।"

फिर चाङ्ग ने अपना मुख खोलते हुए पूछा, "क्या मेरे मुख में दाँत है?" "नहीं तो!" लाओत्से ने जवाब दिया।

"और जीभ ?", चाङ्ग का अगला प्रश्न था "वह तो है", लाओत्से बोले। "ऐसा क्यों है, क्या कारण बता सकते हो ?", चाङ्ग का अगला प्रश्न था। "महोदय, मेरा विचार है कि नम्र होने से जीभ कायम है, जब कि दाँत कड़े होने के कारण विनाश को प्राप्त हुए हैं।"

"तुमने ठीक जवाब दिया है। मनुष्य के विनम्र रहने में भलाई है। मुझे विश्वास है कि तुमने जगत् के सभी सिद्धान्तों को समझ लिया है और तुम्हें उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं।" चाङ्ग ने सन्तोष-भरे शब्दों में कहा।

## ८. अपराधी कौन ?

न्यूयार्क के प्रसिद्ध मेयर ला गार्डिया को, जो अपनी सहृदयता और सुप्रबंध के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं, पुलिस-मुकद्मों से बड़ी दिलचस्पी थी, क्योंकि उन्हें नगर की वास्तविक स्थिति की जानकारी प्राप्त हो जाती थी। इसीलिये वे प्रायः पुलिस के मुकदमों की अध्यक्षता किया करते थे। एक दिन उनके न्यायालय में एक चोर को उपस्थित किया गया। उसका अपराध था कि उसने एक रोटी चुरायी थी। अभियुक्त ने अपने बचाव में सिर्फ एक ही वाक्य कहा, "मेरा परिवार भूखा था, अतः मैं चोरी करने के लिए मजबूर था।" मेयर ने फैसला दिया, "चूँकि अभियुक्त ने चोरी की है, मैं उसपर दस डालर का जुर्माना

करता हूँ।" और दूसरे ही क्षण अपनी जेब से दस डालर निकालकर अभियुक्त को दे दिये और कहा, "यह रहा तुम्हारा जुर्माना।" फिर वे गंभीर स्वर से उपस्थित लोगों से बोले, "साथ ही अदालत में उपस्थित हर व्यक्ति पर मैं ५० सेंट (आधा डालर) जुर्माना करता हूँ, क्योंकि वह एक ऐसे समाज में रहने का महान अपराध करता है, जिसमें एक बेकस इंसान को रोटी चोरी करने के लिए मजबूर होना पड़ता है।"

९. शिक्षा कब तक ?

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो से उनके एक मित्र ने एक दिन बातों ही बातों में प्रश्न किया, "भाई आपके पास तो दुनियां के बड़े-बड़े विद्वान कुछ-न-कुछ सीखने आया ही करते हैं; फिर यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि आप स्वयं इतने बड़े दार्शनिक और विद्वान् होकर दूसरे के पास शिक्षा ग्रहण करने को हमेशा तत्पर क्यों रहते हैं. और वह भी बड़े उत्साह और उमंग के साथ? भला बताइये तो, आपकी यह शिक्षा का क्रम कब तक चलता रहेगा ?"

तत्त्ववेत्ता प्लेटो ने उत्तर दिया, "जब तक दूसरों के पास से कुछ सीखने में शर्म नहीं लगेगी तब तक।"

————

# ब्रह्मज्ञानी रैक्व

राजा जानश्रुति पौत्रायण का यश सूर्य की प्रखर किरणों की भाँति दसों दिशाओं में व्याप्त हो रहा था। उनके जैसा धर्मपरायण और प्रजावत्सल आज तक कोई नहीं हुआ था। उनकी न्याय प्रियता और दान शीलता ने उनकी कीर्ति में चार चाँद लगा दिये थे। अतिथिसेवी ऐसे थे कि जगह जगह उन्होंने धर्मशालाओं का निर्माण कराया था, जहाँ बाहर से आने वाले यात्रीगण साधु-महात्मागण ठहरते और आश्रय पाते थे। जगह जगह उन्होंने अन्न सत्र खुलवाये थे जहाँ इन लोगों को भर पेट भोजन दिया जाता था। उनके द्वार से कोई खाली हाथ लौटकर नहीं जाता था। देश-देशान्तर में उनके औदार्य और विद्वत्ता की ख्याति फैली हुई थी। प्रजा उन्हें देवता की भाँति मानती। वे भी प्रजा को संतानवत् समझते। प्रजा की सुख-सुविधा को ही उन्होंने अपने जीवन का आदर्श बना लिया था। पर दिन-प्रतिदिन उनकी यश की कामना बढ़ती जाती थी। प्रजा की निःस्वार्थ सेवा का स्थान अब यशोलिप्सा ने ले रखा था।

आज राजा बड़े प्रसन्न थे। देश-देशान्तर के सुविख्यात विद्वानों और पंडितों ने उनकी राजधानी की शोभा बढ़ाई

थी। शास्त्रार्थों ज्ञान-चर्चाओं की धूम मची थी। धर्म की पावन गंगा प्रवाहित हुई थी। आज समारोह का अंतिम दिवस था। आगत विद्वज्जनों ने मुक्त कंठ से राजा के औदार्य और आतिथ्य की महिमा बखानी थी, उनकी प्रशंसा में काव्य-मंदाकिनी बहाई थी। राजा फूले न समाये थे। गर्व से मस्तक उठ गया था। छाती फूल उठी थी। खुले दिल से उन्होंने विद्वानों को दान दिया था। रात्रि के समय वे अपने सुषमामंडित मनोहर उद्यान में अकेले घूमते हुए शीतल सुवासित समीर का सेवन कर रहे थे। एकाएक उन्होंने सुना, "मित्र भल्लाक्ष, ये ही महाराज जानश्रुति हैं। इनके पुण्य का प्रताप चारों ओर फैला हुआ है। इनका तेज प्रदीप्त है। तुम संभल जाना कहीं इस तेज का स्पर्श न हो जाये अन्यथा दग्ध हो जाओगे।" यह सुनकर राजा के विस्मय का ठिकाना न रहा। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा। वहाँ कोई न था। पर वृक्ष की एक शाखा में दो सुन्दर हंस बैठे हुए थे। वे ही मानवी भाषा में बातचीत कर रहे थे। उनके मुख से अपनी प्रशंसा सुन उनका हृदय बाग बाग हो उठा। वे ध्यान से उनकी बातें सुनने लगे। पहला हंस आगे कह रहा था, "मित्र, इनकी कीर्ति देवताओं को भी लज्जित करने वाली है। इनके समान ज्ञानी, दानी और धर्मात्मा संसार में दूसरा कोई नहीं है।" यह सुनकर दूसरा हंस बोला, "मित्र यह तुम क्या कह रहे हो? क्या तुमने गाड़ी वाले रैक्व का नाम नहीं सुना? सदैव उस परम तत्त्व के

चितंन में लीन, सुख और दुख से परे, मान-अपमान से दूर, समस्त लौकिक कामनाओं और भोगैषणाओं को तुच्छ समझने वाले ब्रह्मविद् रैक्व के सामने इस राजा की तुलना ही क्या है ? उनके त्याग, तपश्चर्या की विमल आभा के सामने इनका तेज फीका पड़ जाता है। जिस प्रकार पासे के खेल में कृत (सत्य) का अंक त्रेता, द्वापर और कलि के अंकों से अधिक होता है और कृत पाने वाला व्यक्ति त्रेता, द्वापर और कलि के फलों को अनायास प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञानी रैक्व इस राजा के समस्त सत्कर्मों के फलों को हस्तामलकवत् प्राप्त कर रहे हैं।"

राजा पक्षियों की बात सुनकर सकते में आ गए। उनकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया। तब क्या इतने दिनों का किया कराया पानी में फिर जायेगा। जिस पुण्य फल की लालसा से उन्होंने ये सब सत्कर्म किये थे, उसका भागी कोई दूसरा व्यक्ति हो, इससे बढ़कर दुखप्रद घटना और दूसरी कौन सी हो सकती थी। खिन्न हृदय ले वे महल में लौट आए। उस रात उन्हें नींद नहीं आई। प्रातः काल सदैव की भाँति भाटजनों ने उनकी विरूदावली का गान किया। पर आज यह गान शूल की नाईं उनके कानों में चुभने लगा। वे अपने कक्ष से बाहर निकल आये और भाटों को डाटकर बोले, "बन्द करो यह बकवास, और जाकर पता लगाओ कि यह गाड़ीवाला रैक्व कौन है ? वह कौन है जो मेरे समस्त पुण्य कर्मों का फल उसी प्रकार प्राप्त कर रहा है जिस प्रकार पासे में कृत पाने वाले

को त्रेता, द्वापर और कलि का फल मिलता है?" इस आकस्मिक घटना से सब सहम से गये। वे चुपचाप उस गाड़ीवान की खोज में निकल पड़े। नगर के सारे गाड़ीवानों के बीच जा जाकर उन्होंने पता लगाया। पर रैक्व का पता ही न चला। अंत में हताश हो वे शाम को लौट आये और राजा को उनके न मिलने का समाचार दिया। तब राजा बोले, "ऐसा व्यक्ति शहर में नहीं रहता। वह तो एकांत में, निर्जन प्रदेश में रहता होगा। जाकर नदी तट पर खोज करो। निर्जन वनों में, पर्वतों की कंदराओं में पता लगाओ। ऐसे ही स्थलों में ब्रह्मज्ञानी निवास करते हैं।' राजा की बात सच निकली। दूसरे दिन नगर से दूर एक सघन बन में, पर्वतीय पयस्विनी के तट पर उन्होंने एक व्यक्ति को बैठे हुए देखा। वह मजे से बैठा हुआ अपना शरीर खुजा रहा था। पास ही एक गाड़ी पड़ी हुई थी। सेवकों को लगा, हो न हो ये ही रैक्व हैं। उन्होंने जाकर उनसे पूछा, "भगवन्, क्या आप ही रैक्व हैं?" उसने सिर हिलाकर अपनी सहमति दी। सेवकों ने आकर राजा को सूचना दी। राजा बड़े प्रसन्न हुए। दूसरे ही दिन वे उनसे मिलने के लिये रवाना हुए। साथ में छः सौ गायें स्वर्णहार से भरी हुई थाली तथा सजा हुआ रथ भी भेंट के लिए ले गये। वहाँ पहुँचने पर देखा कि वह व्यक्ति अपने ही आप में मग्न है। अपने ही आपसे बातचीत कर रहा है। कभी जोरों से हँस रहा है तो कभी शांत हो चुप बैठा है। चेहरे से अर्धोन्माद की सी अवस्था

दिखलाई पड़ी । राजा सोचने लगे, क्या यह पागल ही ब्रह्मज्ञानी रैक्व है ? इतने में रैक्व की दृष्टि राजा और उनके सभासदों पर पड़ी। उन्होंने तुरंत मुँह फेर लिया । उनकी अवज्ञा से राजा ने अपने को अपमानित अनुभव किया पर अपने को संयत करके वे उनसे बोले, "भगवन्, ये छः सौ गायें, यह सुसज्जित रथ तथा यह स्वर्णहार आपके लिए है। आप मुझे बतलाइये कि आप किस देवता की उपासना करते हैं ?"

राजा की बात सुनकर रैक्व क्रोधित हो उठे और राजा से बोले, "अरे शूद्र ! अपनी ये गायें, स्वर्ण और रथ सब अपने पास रख । क्या तू समझता है कि इन चीजों के बदले में ब्रह्मज्ञान खरीद सकता है ? ये चीजें तुझे ही मुबारक रहें । ले जा इन्हें और दूर हो जा।" राजा का ऐसा अपमान देख उनके पार्षद्गण क्रोध से काँपने लगे। उनकी तलवारें खिंच गईं। वे तेजी से आगे बढ़े। क्षण भर में रैक्व का मस्तक जमीन पर लोटने लगता। पर रैक्व के शांत गंभीर चेहरे पर भय की एक रेखा तक न थी। निर्द्वंद्व, अविचलित वे वैसे ही बैठे रहे । राजा ने तुरंत अपने पार्षदों को रोका। राजा ज्ञानी थे। अहंकार के झीने आवरण ने उनके ज्ञान को ढक रखा था। रैक्व की बातें सुन उनका गर्व चूर चूर हो गया। वे वापस लौट आये। रैक्व के शब्द उनके हृदय में तीर की नाईं बिंध गए थे। वे सोचने लगे, "उन्होंने मुझे शूद्र क्यों कहा ? मैं तो उच्चवर्ण का क्षत्रिय राजा हूँ। सुप्रसिद्ध जनश्रुत का पौत्र। फिर उन्होंने मुझे

शूद्र की संज्ञा क्यों दी ? हो सकता है, उस दिन पक्षियों द्वारा रैक्व की प्रशंसा सुन मैं व्यथित हो उठा था। इसीलिये शीघ्र ही द्रवित हो जाने के कारण उन्होंने मुझे शूद्र कहा होगा। अथवा", एक दूसरा विचार उनके मन में कौंधा, "मैंने ब्रह्मज्ञान जैसे सर्वोच्च तत्त्व की प्राप्ति के लिये उन्हें इन भौतिक पदार्थों का, गाय और स्वर्ण का लोभ दिखाया। उच्च वर्णीय व्यक्ति तो गुरु की सेवा-शुश्रुषा और अपनी विनम्रता के द्वारा ही उनकी कृपा का भागी होता है। पर मैंने यह सब न कर, भौतिक पदार्थों द्वारा उस चरम सत्य को जानना चाहा। मेरा निम्न कोटि का आचरण देखकर ही उन्होंने मुझे शूद्र कहा होगा।" इसी प्रकार प्रश्चात्ताप करते हुए उनका दिन बीत गया। पश्चात्ताप से उनका अहं-कलमष बह निकला और मन निर्मल हो गया। दूसरे दिन उन्होंने पुनः उन ब्रह्मज्ञ के पास जाने की ठानी। इस बार वे एक हजार गाय, स्वर्ण और रथ लेकर पहुँचे। साथ में अपनी रूपवती युवा कन्या को भी ले गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने उनके सामने साष्टांग दंडवत किया और विनम्र स्वर में बोले, "भगवन्, मेरी कल की धृष्टता क्षमा करें। मेरे अहंकार को दूर करें। प्रमाद में पड़कर मैंने आपको पहिचाना नहीं। ये गायें रथ और स्वर्ण आपकी सेवा में समर्पित है। ये ग्राम भी आपको दक्षिणा स्वरूप देता हूँ। यह मेरी पुत्री है, आपकी सेवा करेगी। इसे पत्नी रूप में स्वीकार कर अनुग्रहित कीजिए।" राजा की विनम्रता भरी वाणी ने रैक्व का हृदय

जीत लिया। उनका आक्रोश जाता रहा। वे प्रसन्न हो बोले, "ज्ञान के प्रति तुम्हारी उत्कट अभिलाषा देख मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारी दी गई चीजें मैं स्वीकार करता हूँ।"

फिर एकांत में ब्रह्मज्ञ रैक्व ने राजा को ब्रह्म के स्वरूप का उपदेश दिया। उपदेश देते समय उनका स्वरूप ही बदल गया। पागलों और विक्षिप्तों की तरह व्यवहार करने वाले रैक्व अब महीमामंडित गुरु के रूप में प्रकाशित हुए। उनका मुखमंडल तेजोमय हो उठा। सच ही तो है, ब्रह्मज्ञानियों को समझ पाना वैसा ही दुष्कर कार्य है जैसा ब्रह्म की अनुभूति करना। उनका जन साधारण की पकड़ में आना असंभव होता है। लोगों को वे कभी जड़वत्, कभी विक्षिप्त तो कभी पिशाचवत् प्रतीत होते हैं। बिरले ही पुण्यात्माओं को उनके वास्तविक रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्मज्ञ रैक्व संवर्ग विद्या के ज्ञाता थे। संवर्ग का तात्पर्य है अपने आप में मिला लेना, एक रूप कर लेना। उन्होंने राजा को बतलाया, "वायु ही संवर्ग है। जब अग्नि बुझ जाती है तो वह वायु में निमीलित हो जाती है। सूर्य अस्त होने पर वायु में ही लीन हो जाता है। चन्द्रमा भी अस्त होकर वायु में लीन हो जाता है। जल भी सूखने पर वायु में मिल जाता है। इस प्रकार अग्नि, सूर्य, चन्द्र और जल दो संबर्ग वायु है। उसी प्रकार शरीर के संदर्भ में प्राण संवर्ग है। जब मनुष्य सोता है, तब वाक्-इन्द्रिय प्राण में लीन हो जाती है। चक्षु-इन्द्रिय प्राण में लीन हो जाती है। श्रवणेन्द्रिय और मन भी प्राण में

ही लीन हो जाते हैं। अतः प्राण ही समस्त इन्द्रियों का संवर्ग है। इस प्रकार संवर्ग दो हैं, – वायु और प्राण। संवर्ग वायु और उसका आहार अग्नि, सूर्य, चन्द्र तथा जल एवं उसी प्रकार संवर्ग प्राण और उसका आहार वाक्-इन्द्रिय, दर्शनेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय तथा मन ये दस मिलकर उस विराट् का, दृश्य जगत् का स्वरूप प्रकट करते हैं जो ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतः वायु और प्राण की उपासना ब्रह्म की ही उपासना है। इसीसे शाश्वत शान्ति की प्राप्ति होती है, सायुज्य लाभ होता है।"

राजा जानश्रुति ने अनुभव कर लिया कि ब्रह्म की उपासना समस्त दानों से श्रेष्ठतर है। अन्न-दान, ज्ञान-दान आदि का फल क्षणिक होता है जबकि ब्रह्म की उपासना से अमरत्व की प्राप्ति होती है। अतएव मानव-जीवन का चरम लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार ही है।

---

ज्ञान का उन्माद मदिरा के उन्माद से भयंकर है। क्योंकि ज्ञानोन्मादी अपने साथ दूसरों को भी हानि पहुँचाते हैं जब कि मदिरोन्मादी केवल अपनी ही हानि करते हैं।

# शुभ-अशुभ कर्म

शान्ति गुप्ता एम० ए०

यह संसार परिवर्तनशील है क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। अतः इस परिवर्तनशील संसार में कोई भी वस्तु चिरस्थायी नहीं रह सकती। जब संसार ही परिवर्तन-शील है क्षणभंगुर एवं नाशवान है, तो उसमें रहने वाले प्राणी अपरिवर्तित कैसे रह सकते हैं? बचपन, यौवन और बुढ़ापा आते रहते हैं अपनी प्रकृति के अनुरूप अवस्थाएँ लेकर। इसी प्रकार सुख और दुःख रूपी अवस्थाएँ भी अनिवार्य क्रम से आती रहती हैं—एक के बाद एक। न सुख की अवस्था स्थिर रहती है और न दुःख की, क्योंकि संसार की गति ही ऐसी है। प्रकृति अपने स्वभाव के विपरीत आचरण नहीं कर सकती।

सुख के आगमन पर मानव हर्ष से विभोर हो उठता है। उसकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रहती। उस समय वह इस सत्य को भूल जाता है कि यह सुख क्षणिक है, सदा बना रहने वाला नहीं है। परन्तु जिस समय मनुष्य पर दुःख का प्रकोप होता है, उस समय वह दुःख से अभिभूत कभी अपने भाग्य को दोष देता है और कभी अपना भाग्य बनाने वाले भाग्य-विधाता को। दुःख के कारण उसे उचित-अनुचित का विवेक भी नहीं रहता। और पागलों की भांति अर्धविक्षिप्तावस्था में वह हर किसी

को अपने दुःख के लिए उत्तरदायी ठहराता है। वह शान्त एवं स्थिर चित्त से कभी इस बात पर विचार नहीं करता कि वास्तव में हमारे दुःख का असली कारण क्या है।

यदि दुःख प्राप्त होने पर मनुष्य यह समझने की चेष्टा करे कि मुझे यह दुःख क्यों प्राप्त हुआ ? मेरे दुःख का वास्तविक कारण क्या है ? तो निश्चय ही उसे ज्ञात हो जायगा कि हमारे दुःख का कारण हमारे द्वारा किये हुए अशुभ कर्म ही हैं। रामचरितमानस में लक्ष्मण जी निषादराज गुह को समझाते हुए कहते हैं :—

"काहू न कोउ सुख दुख कर दाता,
निज कृत करम भोग सबु भ्राता।"

हम जैसा कर्म करेंगे वैसा ही फल प्राप्त होगा। बुरे कर्म का बुरा और अच्छे कर्म का अच्छा फल प्राप्त होता है–यह तो एक सर्वमान्य तथ्य है! 'जैसी करनी वैसी भरनी' वाली कहावत तो आपने अवश्य सुनी होगी। कबीरदासजी का यह कथन कितना सत्य है :—

" करता था सो क्यों किया, अब करि क्यों पछताय,
बोया पेड़ बबूल का, आम कहाँ ते खाय।"

निश्चय ही यदि हमने शुभ कर्म नहीं किये तो शुभ फल की आशा किस प्रकार कर सकते हैं ?

यह संसार एक विस्तृत कर्मभूमि है। कर्म करने के लिए ही मनुष्य का जन्म हुआ है। कोई भी व्यक्ति जो समाज में रहता है, बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा अपनी

इच्छाओं की संतुष्टि के लिए कर्म अवश्य करना पड़ेगा। हाँ, उसकी मात्रा में कमी या अधिकता हो सकती है। अतः जिस प्रकार के हमारे कर्म होंगे, उसी के अनुरूप हमें फल भी प्राप्त होगा। गोस्वामी तुलसीदास जी का यह कथन कितना सत्य है:—

"कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करै सो तस फल चाखा।"

सर्वनियामक परमात्मा ने इस विश्व को कर्मप्रधान रचा है; इन कर्मों के अनुरूप ही मनुष्य को विभिन्न ऊँची-नीची योनियों में जाना पड़ता है। अतः मानव-जीवन में कर्म का सर्वाधिक महत्त्व है और कर्म करना हमारी अनिवार्य आवश्यकता है।

सुख एवं दुःख प्राप्त होने पर हमें अपने भाग्य और भाग्यविधाता को दोष देने की अपेक्षा सर्वप्रथम अपने कर्मों का विश्लेषण करना चाहिए, आत्म-परीक्षण करना चाहिए। यदि शुभ कर्म करने पर भी विपरीत फल प्राप्त हों तो समझें कि यह पूर्वजन्मों के कर्मफल हैं और इन्हें भोगे बिना निस्तार नहीं। हाँ, इस समय किये जाने वाले शुभ-कर्म भी अपना फल अवश्य दिखलायेंगे; यदि अभी नहीं तो अगले जन्म में। कामनाकृत कर्म और कर्मकृत कामना के वशीभूत होकर मानव जो विविध कर्म करता है उनका फल तो उसे अवश्य ही मिलेगा—वह चाहे शुभ हो या अशुभ।

चाहे जितने दुःख और कष्ट झेलने पड़े, हमें उनसे

घबराना नहीं चाहिए, बल्कि धैर्यपूर्वक यह विचार करते हुए उनका स्वागत करना चाहिए कि धीरे-धीरे हमारे पापों का शमन हो रहा है, हमारे बुरे दिन समाप्त हो रहे हैं। यह हमारे लिए अग्निपरीक्षा का समय होता है। अगर इस परीक्षा में हम खरे उतरे तो आने वाला समय हमारे सारे दुःखों का अन्त कर देगा और असीम सुख प्राप्त होगा। चूँकि पूर्वकर्मों का फल भोगना तो अवश्य पड़ेगा, अतः उन्हें जितनी शीघ्रता से और शक्ति रहते भोग लिया जाये, उतना ही अच्छा। साथ ही भविष्य के लिए हम सावधान हो जायें।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि हमारे सुःख-दुःख का कारण स्वयं हमारे द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्म ही हैं। कोई व्यक्ति, वस्तु अथवा स्वयं ईश्वर भी उसमें कारण नहीं। कुछ विद्वज्जन तो कर्म को ही ईश्वर का रूप मानते हैं, क्योंकि शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार ही परमात्मा भी सुख और दुःख रूपी फल प्रदान करते हैं। आप कह सकते हैं कि जब हमारे कर्म ही हमें बनाने एवं मिटाने की क्षमता रखते हैं और भगवान इसमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं कर सकते तो फिर ईश्वर की क्या आवश्यकता? वास्तव में इन सब क्रिया-कलापों के मध्य एक निष्पक्ष द्रष्टा की आवश्यकता होती है। भगवान उसी निष्पक्ष द्रष्टा का पार्ट अदा करते हैं। जहाँ न किसी प्रकार की सिफारिश चलती है और न रिश्वत आदि। उनका न कोई अपना है और न पराया, न कोई मित्र है और न कोई शत्रु।

उनकी दृष्टि में सब समान हैं-चाहे वह किसी जाति अथवा धर्म को मानने वाला हो, धनी हो या निर्धन, गृहस्थ हो या गृहत्यागी विरक्त संन्यासी गोस्वामी जी के शब्दों में:—

"सुभ अरु असुभ करम अनुहारी,
ईसु देई फलु हृदय बिचारी।"

कर्मफल भोगे बिना निस्तार नहीं। बड़े-बड़े साधु-सन्त और राजा-महाराजा भी उनके थपेड़ों से नहीं बच सके। राजा धृतराष्ट्र के बारे में कहा जाता है कि पूर्वजन्म में उन्होंने एक निर्दोष हरिणी की आँखें फोड़ दी थीं। उसी कर्म के फलस्वरूप वे इस जन्म में इतने वैभवशाली सम्राट् होते हुए भी जन्म से ही नेत्रहीन हुए और उस अशुभ कर्म के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं कर सके। श्रीमद्-भागवत में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं। श्री नारद जी व्यास को अपने पूर्वजन्म का इतिहास बताते हुए कहते हैं कि पहले जन्म में वे एक निर्धन दासी के पुत्र थे, परन्तु साधु-सेवा रूपी शुभ-कर्म के फलस्वरूप उन्हें इस जन्म में ब्रह्मा के पुत्र होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और वे त्रिलोकी में इतने सम्मानित हुए। इसी प्रकार भगवान वैकुण्ठ-नाथ के पार्षद जय विजय को भी अपने कर्मों के फल-स्वरूप उस दिव्य लोक से निकलकर घोर तमोमय योनियों में जाना पड़ा था।

अतः शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। यदि ऐसा न हो तो संसार का उचित विभाजन नष्ट हो जाये, अच्छे-बुरे की पहिचान न हो सके और शुभ-अशुभ

कर्मों का कोई महत्त्व ही न रह जाये। यदि चोर को चोरी की सजा न मिले तो उसे कभी भी अपनी गल्ती का एहसास नहीं हो सकता। अक्सर आपने देखा होगा कि दुःख और कष्ट से पीड़ित व्यक्ति को देखकर कुछ लोग तो उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं और कुछ इस कटु सत्य को कहने से नहीं हिचकते कि 'बड़ा पापी है, अपने पापों का फल भोग रहा है। कोई क्या करे, जैसा किया वैसा भोगे।' और उनका यह कहना सत्य भी है क्योंकि हमारे सुख के साथी तो हजारों बन जाते हैं, परन्तु दुःख में साथ देने वाला कोई नहीं होता।

इसलिए हमें उचित-अनुचित का विवेक रखकर ऐसे कर्म करने चाहिए, जिससे हमारा यह समय भी सुख-पूर्वक कटे, किसी प्रकार की उतावली अथवा परेशानी न हो और अगले जन्म के लिए हम पापों की गठरी सँजोकर न ले जायें, क्योंकि संसार में जब तक रहना है कर्म तो करने ही पड़ेंगे। इससे कोई बच नहीं सकता। अतः जागरूक रहकर सदा शुभ-कर्म करने चाहिए जिससे अपना भी भला हो और दूसरों का भी अहित न हो। कबीरपंथी श्री शम्भुदास जी साहेब का कथन सत्य ही है—

"देनहार या जगत में, सुख दुःख को नहिं कोय।
कर्मन के अनुसार ही, भलो बुरो सब होय॥"

———

# संत फ्रांसिस

रामेश्वर नन्द

समय-समय पर संसार के विभिन्न भागों में जिन महापुरुषों और देवदूतों ने जन्म लिया है उनमें केवल बाह्याचार और देश-काल का ही अंतर दिखाई देता है। सभी महापुरुष आश्चर्यजनक रूप से एक ही सत्य की घोषणा करते हैं। धर्मप्रचारकों की इस परम्परा में ईसाई धर्म के महान सन्त फ्रांसिस का विशेष स्थान है। उनके जीवन, परिवेश और उपासना पद्धति भारतीयता की झलक लिये हुए हैं। वे भक्तिमार्गी संत थे। उनकी जन्मभूमि इटली और भारत में अनेक बातें समान हैं। इसी समानता को प्रकट करते हुए श्री सी० एफ० एण्ड्रयूज ने लिखा है—"यूरोप के अन्यान्य देशों की अपेक्षा इटली भारत के अधिक निकट है।..... जिस प्रकार इटली के उत्तर में हिमाच्छादित शैल-शिखर उसे शेष यूरोपीय देशों से पृथक कर देते हैं उसी प्रकार भारत के उत्तर में स्थित हिमालय उसे एशिया के अन्य देशों से अलग कर देता है। भौगोलिक समानता के अतिरिक्त वृहत्तर सभ्यता की जननी के रूप में भी इटली भारत के समान है। भारत के समान इटली भी विदेशी आक्रमणों से पीड़ित रहा है और दोनों देशों में विदेशियों का राज्य रहा है।"

एण्ड्र्यूज महोदय ने इटली और भारत के अनेक पत्तों की समरूपता की चर्चा की है ।

श्री वेरियर एल्विन ने संत फ्रांसिस की तुलना प्रसिद्ध भारतीय संत तुकाराम से करते हुए लिखा है कि "महान् भक्त तुकाराम अनेक दृष्टियों से संत फ्रांसिस की याद दिलाते हैं । संत फ्रांसिस के समान उनका जन्म भी एक सम्पन्न व्यवसायी परिवार में हुआ था। संत फ्रांसिस के समान उन्हें भी दरिद्रता से प्रेम हो गया था। वे भी ईश्वर का कीर्तन करते हुए घूमा करते थे। जिस प्रकार संत फ्रांसिस ने सेण्ट डेमियन के भग्न चर्च का जीर्णोद्धार किया था उसीप्रकार संत तुकाराम ने भी इन्द्रायणी नदी के तट पर स्थित श्री विठ्ठल के भग्न मन्दिर का उद्धार किया था। दोनों में विपत्तियों में आनन्दित रहने की बड़ी अद्भुत क्षमता थी। दोनों महात्माओं ने जप-तप की अपेक्षा भगवन्नाम का विशेष प्रचार किया था। संत फ्रांसिस के समान संत तुकाराम भी किसी गुफा या गह्वर में बैठकर भगवान का ध्यान किया करते थे।"

ईसाई मत के इस महान संत का जन्म सन् ११८१ या ११८२के आसपास हुआ होगा। उनके जन्म की निश्चित तिथि की जानकारी नहीं है। संत फ्रांसिस के पिता पीटर बर्नार्डिन कपड़े के बड़े व्यापारी थे । संत फ्रांसिस का बचपन का नाम जान था। पर इसी नाम के एक महापुरुष का उल्लेख बाइबिल में भी आता है इसलिये उनका नाम बदल कर फ्रांसिस रख दिया गया । 'फ्रांसिस' का शाब्दिक अर्थ

है 'छोटा सा फ्रेंच भद्र पुरुष'। सम्पन्नता में पलने के कारण युवक फ्रांसिस में अनेक दुर्गुणों का समावेश हो गया था। वह बड़ा घमण्डी था तथा उसका विश्वास था संसार की सभी वस्तुएँ, यहाँ तक कि प्रेम और मैत्री भी, धन से खरीदी जा सकती हैं। संत अगस्ताइन के पूर्व जीवन के समान उसका जीवन भी चारित्रिक दोषों से ग्रस्त था। वह भोग को अपने जीवन का आदर्श मानता था तथा धर्म और ईश्वर पर उसकी कोई आस्था नहीं थी। किशोरावस्था में ही बहक जाने के कारण उसका मन पढ़ाई-लिखाई में नहीं लगा। वह बड़ी स्वच्छन्दतासे धन का अप-व्यय करता था। इससे उसकी वासना अनियंत्रित हो गयी वह पूरी तरह से पथ - भ्रष्ट हो गया।

चारित्रिक रूप से दुर्बल होते हुए भी फ्रांसिस व्यवसाय में बड़ा कुशल था। वह अपने ग्राहकों को संतुष्ट करने में दक्ष था तथा विक्रयकला में पारंगत था। इसी समय उसके जीवन में एक छोटी सी घटना आई जिसने उसमें आमूल परिवर्तन उपस्थित कर दिया। एक दिन फ्रांसिस अपनी दुकान पर बैठे हुए थे। इतने में एक भिखारी उनके सामने आया और भिक्षा की याचना की। पहले तो फ्रांसिस ने उसे घुड़ककर भगा दिया किन्तु दूसरे ही क्षण उनके मन में अनेकानेक विचार उदित हुए। उन्होंने सोचा, "जब उस गरीब ने ईश्वर का नाम लेकर भीख माँगा तब मैंने उसे डाँटकर भगा दिया। अगर कोई राजा का नाम लेकर मुझसे माँगने आये तो क्या मैं उसे भगा सकूँगा ?" इस

विचार के आते ही वे भिखारी के पीछे दौड़े और उसे बड़ी आत्मीयता से दुकान में लाकर अपने बटुए के सारे पैसे दे दिये।

फ्रांसिस ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त की थी। १८ से २३ वर्ष की उम्र तक वे नवयुवक वर्ग के नेता और क्रान्तिकारी के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। असीसी के विदेशी शासक के विरुद्ध जब पोप इन्नोसेन्ट ने क्रान्ति की थी तब वे उसके सक्रिय सदस्य थे। जब विदेशियों के घरों को उजाड़ने और नष्ट करने के आरोप में कई लोगों को बन्दी बनाया गया तब फ्रांसिस भी गिरफ्तार कर लिये गये। कालान्तर में उन्होंने सैनिक के रूप में भी अपनी वीरता का प्रदर्शन किया था।

किन्तु इन अनेकविध क्रिया-कलापों के अन्तराल में नवयुवक फ्रांसिस का हृदय अदृश्य रूप से परिवर्तित हो रहा था। भिखारी के प्रति उन्होंने जो व्यवहार किया था उससे उन्हें बड़ी आत्मग्लानि हो रही थी और उनके मन में वैराग्य का उदय हो रहा था। सुख और विलास में जीवन को बिताने वाला युवक फ्रांसिस एक नयी दिशा की ओर बढ़ रहा था।

जब युवक फ्रांसिस २१ वर्ष के हुए तब उनके जीवन में एक और छोटी सी घटना घटी। वे सैनिक के रूप में युद्धक्षेत्र की ओर जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक गरीब भिखारी मिला। उसके शरीर पर कपड़े के नाम पर कुछ चिथड़े लटक रहे थे। दरिद्रता की इस प्रतिमूर्ति को देखकर

उनका मन अत्यधिक द्रवित हो गया और उन्होंने अपने सारे कपड़े उसे दे दिये और स्वयं भिखारी के चिथड़ों को पहनकर युद्धस्थल की ओर चल पड़े। उसी रात को उन्हें एक अभूतपूर्व स्वप्न दिखा। उन्होंने सुना कि कहीं से एक दिव्य और मधुर वाणी उन्हें सम्बोधित करते हुए कह रही है — "फ्रांसिस, स्वामी की सेवा करना उचित है या दास की ?" फ्रांसिस ने उत्तर दिया — "निश्चय ही स्वामी की।" तब पुनः वह वाणी कहती है — "फिर तू एक दास को स्वामी समझकर उसकी सेवा क्यों कर रहा है ?"

फ्रांसिस समझ जाते हैं कि पार्थिव स्वामी चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर वह जगदीश्वर के सामने तुच्छ और उसके दास के समान है। उनके मन में विचारों की आँधी चलने लगती है और दूसरे ही दिन वे असीसी लौट आते हैं। उसके मन में स्वामी को खोजने की व्याकुलता का उदय हो जाता है। वे अब सदैव सपने के संसार में विचरण करने लगते हैं। उनका मन व्यवहार-जगत् से उचट जाता है। एक दिन फ्रांसिस एक बड़े भोज में सम्मिलित हुए। वहाँ उनके मित्रों ने उनपर टिप्पणी करते हुए कहा, "लगता है, इसे किसी से प्रेम हो गया है।" फ्रांसिस ने तत्काल उत्तर दिया, "हाँ, मुझे सचमुच प्रेम हो गया है। मैं एक ऐसी पत्नी की बात सोच रहा हूँ जो तुम लोगों के द्वारा देखी गयी नारियों से कहीं अधिक सुन्दर, सम्पन्न और पवित्र है।"

फ्रांसिस कहा करते थे कि उन्होंने ईसा की दिव्य

सहचरी 'लेडी पावर्टी' ( दरिद्रता ) से विवाह कर लिया है। वे ईश्वरीय उन्माद में मत्त होकर तीर्थ यात्रा के लिये निकल पड़ते हैं। इस यात्रा में वे फिर एक भिखारी से मिलते हैं। फ्रांसिस अपने सभी कपड़े उसे दे देते हैं और उसके चिथड़ों को खुद पहन लेते हैं। वापस लौटने पर वे जानते हैं कि उनके पिता घर पर नहीं हैं। उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर वे जी भरकर दरिद्रों की सेवा करते हैं और उन्हें भोजन, वस्त्र और धन प्रदान करते हैं। दरिद्रों की पीड़ा का अनुभव करने के लिये वे स्वयं भीख माँगकर अपना निर्वाह करते हैं। इतना करने के बाद भी उन्हें ऐसा लगता है कि उनका अहंकार अभी नहीं मरा है और भिखारियों और उनके बीच एक दीवार खड़ी हुई है। उनका मन इस व्यवधान को मिटाने के लिये व्याकुल हो जाता है।

इसी समय एक और घटना घटती है। एक दिन वे घोड़े पर सवार होकर कहीं जा रहे थे। रास्ते में उन्हें अत्यंत घिनौना, विकलांग और गलित कुष्ठ से पीड़ित कोढ़ी दिखाई पड़ा। उसकी उँगलियाँ और होंठ गल गये थे। उसे देखकर उनका मन भय से सिहर उठता है। वे घोड़े को चाबुक लगाकर जल्दी से आगे बढ़ जाते हैं। किन्तु उन्हें फिर पश्चात्ताप होता है और वे वापस उसके पास लौटते हैं। घोड़े से उतरकर वे कोढ़ी का आलिंगन कर उसके हाथों को चूम लेते हैं और अपना सारा धन उसे दे देते हैं।

इन घटनाओं के द्वारा फ्रांसिस के हृदय में होने वाले आध्यात्मिक जागरण का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। फ्रांसिस अब अधिकाधिक एकान्तवासी हो जाते हैं और ईश्वर के चिन्तन में लीन हो जाते हैं। एक दिन शाम को वे प्रार्थना करते हुए प्रभु से कह रहे थे, "हे महान्, हे महिमामय प्रभु, हे यीशु, मैं प्रार्थना करता हूँ कि तुम अपने प्रकाश से मेरे तिमिराच्छन्न मन को आलोकित कर दो। हे प्रभु, तुम मुझे स्वीकार कर लो ताकि मैं अपना प्रत्येक कार्य तुम्हारी मंगल-प्रेरणा के द्वारा कर सकूँ।" उन्हें एक दिव्य अदृष्ट वाणी ने उत्तर दिया, "फ्रांसिस, जा और मेरे इस जीर्ण - शीर्ण गृह ( सेंट डैमियन चर्च ) का उद्धार कर।"

ईश्वर के आदेश को सुनकर फ्रांसिस का हृदय भावनाओं से भर उठता है। वे ईश्वरीय कृपा से अभिभूत हो घर लौटते हैं। उन्हें पता चलता है कि उनके पिता कार्यवश कहीं बाहर गये हैं। वे अपनी दूकान और घर की समस्त वस्तुओं को लेकर फोलिनो के बाजार में पहुँचते हैं और उसे बेच देते हैं। वे पैदल वापस लौटते हैं तथा सेंट डैमियन चर्च के पादरी को सारा धन सौंप देते हैं। पर पादरी इस प्रकार के धन को आगामी दुष्परिणाम की सम्भावना से ग्रहण करने में आनाकानी करता है। तब फ्रांसिस खिड़की से धन को चर्च के भीतर डालकर चले जाते हैं और यह घोषित करते हैं कि सेंट डैमियन चर्च ही उनका घर है।

वापस लौटने पर फ्रांसिस के पिता को जब अपने पुत्र की करतून का पता चला तब उन्होंने अदालत में मुकदमा चलाना चाहा। पर विद्वान न्यायाधीश ने किसी संन्यासी पर मुकदमा चलाने की असमर्थता जाहिर की। लाचार होकर उनके पिता ने स्थानीय बिशप को सारा हाल कह सुनाया और उनसे क्षतिपूर्ति की याचना की। बिशप की अदालत में जब फ्रांसिस को क्षतिपूर्ति की आज्ञा मिली तो उन्होंने अपने सारे वस्त्रों को बचे-खुचे पैसों के साथ भरी अदालत में निकालकर रख दिया और कहा, "आज तक मैं पीटर बर्नार्डन को अपना पिता कहता रहा किन्तु आज से उस स्वर्गस्थित परमेश्वर को ही अपना पिता कहूँगा, जिसे मैंने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया है तथा जिसमें मेरी पूरी आस्था और आशा है।" इसी बीच बिशप ने अपना चोगा वस्त्रहीन फ्रांसिस पर डाल दिया था। इतना कहकर फ्रांसिस बाहर निकल आये और सेंट डैमियन चर्च में रहने लगे।

यहीं से भोगों के राजकुमार का एक नया जन्म प्रारम्भ होता है। धन-सम्पदा का त्याग करके वह अब ईश्वर-प्राप्ति के पथ पर अग्रसर होता है। इस समय एक और अलौकिक घटना घटी। एक दिन फ्रांसिस अपने आगामी जीवन की योजना बनाने के लिये तीन बार बाइबिल को खोलते हैं। तीनों बार पूर्ण त्याग का उपदेश उनके सामने खुलता है। पहली बार वे सेन्ट मैथ्यू का यह बचन पढ़ते है— "यदि तुम पूर्ण बनना चाहते हो तो जाओ और अपने

पास की सभी चीजों को बेच दो और धन को गरीबों में बाँट दो । स्वर्ग में तुम्हें खजाना मिलेगा। और आओ, मेरा अनुसरण करो ।" दूसरी बार वे ल्यूक की इन पंक्तियों को पढ़ते हैं-"अपनी यात्रा में अपने साथ कुछ भी न रखो- न चूल्हा, न चौकी, न पैसा, न रोटी; और न ही तुम दो कपड़े ही रखो ।" तीसरी बार वे पुनः मैथ्यू के इन उपदेशों को पढ़ते हैं-"यदि कोई व्यक्ति मेरे पीछे आना चाहे तो उसे अपने अहंकार को मारना होगा और उसे अपना सलीब अपने कंधे पर रखकर मेरा अनुसरण करना होगा ।"

परमहंस-उपनिषद् में परमहंस का लक्षण बताते हुए कहा गया है —"न दण्डं न शिखां यज्ञोपवीतं नाऽऽच्छादनं चरति परमहंसः ।" संत फ्रांसिस के जीवन में इन शास्त्रीय लक्षणों का परिपाक दिखाई देता है। हिन्दू महात्माओं की तरह संत फ्रांसिस भी देहाभिमान - शून्य परमत्यागी महापुरुष थे। मनुष्य की तो बात दूर रही, जंगल के पक्षी तक इनकी भाषा समझते थे। उनके शरीर में पक्षीगण निर्भय हो बैठ जाया करते थे। यह उनकी आत्मा की उच्चता का परिचायक है। संत फ्रांसिस के जीवन में यह परिवर्तन आकस्मिक रूप से हुआ था। ज्ञानी फ्रांसिस देहभान से रहित हो गये थे और उनके वस्त्रों का कोई ठिकाना नहीं रहता था। उनके शरीर पर वस्त्र के नाम पर चिथड़े लटके रहते थे। उनका सारा समय अब अनुयायियों के साथ सेंट डैमियन चर्च का जीर्णोद्धार करने, कोढ़ियों की सेवा करने तथा भजन-

कीर्तन आदि कार्यों में व्यतीत होता था। संत फ्रांसिस अपने शिष्यों को आत्ममोक्ष की अपेक्षा दूसरों की सेवा करने का उपदेश दिया करते थे। उनकी शिक्षा थी— "हम यह जान लें कि ईश्वर ने हमें अपनी मुक्ति के लिये नहीं लेकिन अनेक लोगों की मुक्ति के लिये भेजा है। हमें चाहिये कि हम संसार के लोगों के समक्ष अपने आचरण का उदाहरण रखें जिससे वे अपने पापों पर अनुताप कर सकें। इस बात से तुम्हें नहीं डरना चाहिये कि तुम बहुत साधारण और सामान्य प्रतीत होते हो। तुम्हें बिना किसी भय के, सरलता के साथ, प्रायश्चित्त के संदेश का प्रचार करना चाहिये। ईश्वर में विश्वास रखो। वह सारे संसार का स्वामी है। तभी वह स्वयं तुम्हें माध्यम बनाकर बोलेगा और तुममें बोलेगा। तुम्हें बहुत से लोग भक्ति, भद्रता और आस्था से युक्त मिलेंगे पर तुम्हें उससे भी कहीं अधिक अहंकारी, अविश्वासी, धर्मनिंदक और दूसरी तरह के लोगों का सामना करना पड़ेगा जो तुम्हारी निन्दा करेंगे और तुम्हारा विरोध भी। इसलिये तुम्हें सदैव दृढ़संकल्प बने रहना होगा और सबकुछ धीरज और नम्रता के साथ सहना होगा।"

संत फ्रांसिस ने अपने शिष्यों को कोरा उपदेश ही नहीं दिया था बल्कि उन्होंने उसे अपने जीवन में भी उतार लिया था। हम यहाँ उन चमत्कारों का वर्णन नहीं कर सकेंगे कि कैसे उन्होंने गरम लोहे को अपने हाथों में उठा लिया था और अपने कानों में गरम सलाखों के

डालने पर उफ तक न की थी। उनके जीवन में स्पर्शमात्र से एक कोढ़ी को चंगा कर देने की घटना भी आती है।

संत फ्रांसिस का समय ईश्वर चिन्तन में बीता करता था। उनकी आयु ४३-४४ वर्ष की हो चुकी थी पर उन्हें अबतक ईश्वर का दर्शन नहीं हुआ था। लोग उनके विषय में तरह-तरह की बातें किया करते थे पर वे मानों उपहास अवमानना और निन्दा के परे स्थित हो चुके थे। उनके हृदय में ईश्वर-दर्शन की व्याकुलता बढ़ रही थी। प्रभु ने वह पुनीत क्षण उनके जीवन में अवतरित किया। सन् १२२३ ईस्वी के क्रिसमस के पुण्यपर्व के अवसर पर संत फ्रांसिस ग्रेशियो नामक गाँव में रुके हुए थे। सारा गाँव प्रभु यीशु के जन्मोत्सव की तैयारी में लगा था। संत फ्रांसिस ईसा के जन्म के समय के वातावरण की योजना कर रहे थे। उन्होंने गाँव के बाहर एक अस्तबल बनाया। वे कहीं से तीन पशु, एक गधा, एक बैल और एक भेंड़ ले आये और वहाँ बाँध दिया। फिर अपने हाथों से नांद भी बनायी और जननी मरियम और बालक यीशु की मूर्ति वहाँ स्थापित कर दी। अब वे मध्यरात्रि की बड़ी व्याकुलता से प्रतीक्षा करने लगे। अन्ततः वह पुण्य घड़ी आई। उन्होंने देखा कि नाँद पर सचमुच में ही एक दिव्यज्योति सम्पन्न नवजात शिशु सोया हुआ है। वे बहुत हौले उसको छूते हैं। उनके स्पर्श से वह दिव्य शिशु जाग उठता है। संत फ्रांसिस चिरातुर नेत्रों से वह भुवनमोहिनी छबि देख रहे हैं। हृदय में आनन्द उमड़

रहा है। पर अभी भी मानो उनकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। अभी उन्होंने अपने आराध्य को पूर्ण रूप से नहीं देखा। उन्होंने प्रभु का सलीब पर चढ़ा रूप देखना चाहा था। वे उन्हें मसीहा के रूप में देखना चाहते थे। कालान्तर में उनकी यह इच्छा भी पूर्ण होती है। एक दिन प्रार्थना करते समय उन्हें ऐसा दिखता है कि स्वर्ग से एक छः पंखों वाला ज्योतिमान देवदूत उतर रहा है। वह अपने आलोकमान परों में उन्हें आलिंगन कर लेता है। फिर वे अपने प्रभु के इष्ट रूप का दर्शन करते हैं-प्रभु यीशु को सलीब पर लटके हुए देखते हैं। वे भावविह्वल होकर अनुभव करते हैं कि प्रभु ने उन्हें अपनी बाहों में समेट लिया है। इसके उपरान्त एक और अलौकिक अनुभूति उन्हें होती है। वे महसूस करते हैं कि उनकी हथेलियों और पैरों में कीलें ठोंक दी गयी हैं और वहाँ से गरम खून बह रहा है। उन्हें एक अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है। उनके शरीर में यह चिह्न अन्तकाल तक बना रहता है। वेरियर एलविन का कथन है कि तत्कालीन साहित्य में इस बात के अनेक प्रमाण मौजूद हैं।

ईश्वर-साक्षात्कार के उपरान्त सन्त फ्रांसिस मत-प्रवर्तक बन जाते हैं। उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ती जाती है पर उनका जीवन नितान्त अहंशून्य ही बना रहता है। वे वैसे ही दरिद्र बने रहते हैं। वे एक ऐसे समय में समस्त सुखों को तिलांजलि देकर वैराग्यपूर्ण और सरल जीवन बिताते हैं जब ईसाई मठों के पादरी राजसिक भवनों में रहा

करते थे और अपने प्रचुर धन की रक्षा के लिये सशस्त्र सेनाएँ रखा करते थे। संत फ्रांसिस अपने शिष्यों को जीविकोपार्जन के लिये परिश्रम करने का उपदेश देते थे। यदि कोई व्यक्ति उन्हें कुछ देता तो वे और उनके शिष्य उसका काम करके उसका भुगतान कर दिया करते थे।

संत फ्रांसिस की शिक्षा बड़ी व्यावहारिक और सरल थी। वे संग्रह के विरोधी थे। वे धर्म-शास्त्रों के संग्रह को भी अच्छा नहीं समझते थे। उनका कहना था कि "मनुष्य का ज्ञान उसके कार्यों से जाना जाता है।" पुस्तकों के सम्बन्ध में उनका विचार था कि "इससे अनुयायियों में ज्ञानी और अज्ञानी का भेद बढ़ जायेगा।" संत फ्रांसिस कहा करते थे, "हे प्रभु, तुम मुझे अपनी शान्ति का माध्यम बना लो। जहाँ घृणा है वहाँ मैं प्रेम के, जहां अप-राध है वहाँ क्षमा के, जहाँ संदेह है वहाँ विश्वास के, जहाँ निराशा है वहाँ आशा के और जहाँ शोक है वहाँ आनन्द के बीज बोऊँ। हे प्रभु, मुझपर कृपा करो। मैं सान्त्वना चाहने के स्थान पर सांत्वना दूँ। मैं इस बात की अपेक्षा न करूँ कि लोग मुझे समझें बल्कि मैं स्वयं उन्हें समझूँ। प्रेम चाहने के बदले प्रेम करूँ, क्योंकि देकर ही हम पाते हैं, क्षमा करने से ही क्षमा मिलती है और मृत्यु में ही अमर जीवन निहित है।"

ईश्वर-साक्षात्कार के उपरान्त संत फ्रांसिस तीन वर्ष और जीते हैं। उनका सारा समय ईश्वर विषयक उपदेश देने और कोढ़ियों की सेवा में बीतता है। अन्तिम

काल में उन्हें जलोदर रोग हो जाता है तथा चिकित्सा से कोई लाभ नहीं होता। मरणासन्न सन्त फ्रांसिस अपने शिष्यों से कहते हैं, "मुझे विवस्त्र करके भूमि में लिटा दो।" फिर वे 'न्यू टेस्टामेंट' से संत जान की पुस्तक सुनाने के लिये अपने शिष्य से कहते हैं। पाठ समाप्त होते ही वे अपने पार्थिव शरीर को त्याग देते हैं। उस दिन सन् १२२६ के अक्टूबर मास की तीसरी तारीख थी। उनके जीवन में बाइबिल का यह वचन पूर्णतः चरितार्थ होता है—"मैं अपनी माता के गर्भ से वस्त्रहीन ही आया हूँ और मैं वस्त्रहीन ही वापस जाऊँगा। प्रभु ने ही जीवन दिया और वे ही उसे नष्ट कर देते हैं। प्रभु का नाम पवित्र है।"

आज भी संत फ्रांसिस के अनेक अनुयायी हैं। जिस प्रकार भारत में शंकर और रामानुज के सम्प्रदाय हैं उसी-प्रकार पश्चिमी ईसाई जगत् में संत अगस्ताइन और संत फ्रांसिस के सम्प्रदाय प्रचलित हैं। संत फ्रांसिस का सम्प्रदाय ईश्वर के नाम के प्रचार, सरल जीवन और दरिद्रों की सेवा पर विशेष बल देता है। कोढ़ियों की सेवा करना भी इस सम्प्रदाय का एक प्रमुख अंग है।

# सनातन धर्म

घनश्याम श्रीवास्तव 'घन'

( गतांक से आगे )

अखिल सृष्टि का स्वामी ईश्वर एक है। जगत् के सभी प्राणी उसी एक की उपासना करते हैं। उपासना के मूल सिद्धान्त एक होने पर भी उसकी अनेक विध प्रणालियाँ संसार में प्रचलित हैं। वह हिन्दुओं का ईश्वर, मुसलमानों का अल्लाह और ईसाइयों का गाड है। मंदिर में जिसकी पूजा होती है, मस्जिद में उसी का नमाज पढ़ा जाता है और गिरजा में उसी की प्रार्थना होती है। इन भाँति-भाँति की उपासनाओं का फल भी एक समान ही है। सभी उपासक इष्टलाभ करते हैं।

धर्म हमें पूर्णत्व की ओर, ईश्वर के समीप, ले जाता है। जिस प्रकार वृत्त की परिधि से केन्द्र तक पहुँचने के लिए विभिन्न त्रिज्या-पथ हैं उसी प्रकार संसार की परिधि से ईश्वर तक पहुँचने के लिए विभिन्न धर्म-मार्ग हैं। लोगों में धर्म सम्बन्धी जो विरोधाभास दिखता हैं वह केवल अज्ञान की उपज है। वे लोग जो कहते हैं—'मेरा धर्म ठीक है. तुम्हारा धर्म ठीक नहीं', केवल धर्म-प्रलाप करना जानते है धर्म पथ पर चलना नहीं जानते। धर्मों के बाहरी रूप भले ही भिन्न-भिन्न दिखाई दें, पर मूलतः उनमें भिन्नता नहीं

है। वे सभी भगवत्प्राप्ति के विविध साधन हैं। 'सूत्रे मणिगणा इव' अर्थात् सभी धर्म मणियों के सामान ईश्वर रूपी सूत्र में गुँथे हुए हैं। उनके भीतर झाँकने पर व्यापक सादृश्य का दर्शन होता है।

जिस समय भारत में बहुदेववाद की प्रधानता थी और उसमें उलझ कर वैदिक कर्मकाण्ड अत्यन्त जटिल होता जा रहा था, उसी समय उपनिषद्-युग का आरम्भ हुआ। वेदान्त में कर्मकाण्ड की सारी विषमता दूर कर दी। तत्व ज्ञान के आलोक में चरम सत्य का दर्शन हुआ। बहुदेववाद का तात्पर्य है--स्वार्थ-सिद्धि के लिए अनेक देवताओं की पृथक्-पृथक् विधि-विशेष के साथ पूजा। यज्ञादि कर्म भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। सत्यान्वेषी मनीषियों को इससे सन्तोष न हुआ और उन्होंने अनुसंधान के सूक्ष्मतर मंडल में प्रवेश किया। तब उनके मन में एकेश्वरवाद की कल्पना उदित हुई। इसमें सभी देवताओं को विश्व का कर्ता और जगन्नियन्ता के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया गया। सबने उस अनन्त सगुण ईश्वर की पदवी पायी।

आगे चलकर उन मनीषियों ने अनुभव किया कि लोग जिसे अग्नि, वरुण और वायु आदि विविध संज्ञाओं से विभूषित करते हैं, वह सत्ता केवल एक ही है। पंडित जन उस एक को ही भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः'—ऋग्वेद के इस महामन्त्र से दिशाएँ ध्वनित हो उठीं। उस

एक ईश्वर की उपासना से सभी देवताओं की उपासना हो जाती है। यह भावधारा सर्वत्र फैल गयी। यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में यही भाव सन्निहित है।

'हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥'
यजु० २५। १०-११

'सृष्टि के पूर्व उसी एक का अस्तित्व था। सभी प्राणियों और पदार्थों का वही एक मात्र स्वामी है। उसी ने पृथ्वी को धारण किया। वही जो सृष्टि का स्रष्टा है, शक्ति का स्रोत है, सारे देवता जिसकी पूजा करते हैं, जीवन जिसकी छाया है, मृत्यु जिसकी छाया है उसे छोड़ और किसकी पूजा करें?'

कैसी सारगर्भित है यह वेद-वाणी! आज से सहस्रों वर्ष पूर्व लिखे गये ये वेद मन्त्र आज भी नवीन प्रेरणा और नूतन संदेश लेकर धर्म के क्षेत्र में उतरते हैं, एवं धर्म-जिज्ञासुओं का मार्ग दर्शन करते हैं।

श्री मद्भागवत में देवर्षि नारद ने प्रचेताओं के प्रति यही उपदेश किया है।

'यथा तरोर्मूल निषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्ध भुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥'
४।३१।१४

जैसे वृक्ष की जड़ में जल-सिचन करने से उसके (तना, शाखाएँ और डालियाँ आदि) सभी अंग तृप्त होकर लहलहा उठते हैं, और प्राणों के तृप्त होने से समस्त इन्द्रियाँ तृप्त (सचेत) हो जाती हैं; वैसे ही भगवान अच्युत का पूजन करने से सभी का पूजन हो जाता है।'

देवताओं की आत्मा भगवान श्री हरि ही हैं। भगवान की प्रसन्नता में सभी देवताओं की प्रसन्नता है। वैसे ही जैसे अन्तमन के तृप्त होने पर सारा शरीर खिल उठता है। गीता में भगवान कहते हैं—'अहमादिर्हि देवानाम्' अर्थात् देवताओं का आदि कारण (उत्पत्ति-स्थान) मैं हूँ। इससे यह सिद्ध होता है कि देवता भी पूर्णतः भगवान पर ही आश्रित हैं, परन्तु अवश्य वे संसारी प्राणियों से महान हैं; क्योंकि मनुष्य देवताओं का पूजन करके अपना मनोरथ सिद्ध करते हैं। मनोरथ पूर्ण करने की जो शक्ति देवताओं में है, वह ईश्वर से ही उन्हें प्राप्त होती है। यह सारी व्यवस्था अव्यक्त रूप से श्री भगवान ही करते हैं, पर अज्ञान के कारण लोग इस रहस्य को नहीं जानते। 'कामैस्तैस्तैर्हृत ज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः' – भोग-कामनाओं के द्वारा जिनका ज्ञान हर कर लिया गया है वे मूढ़ प्राणी ही अन्य देवताओं को भजते हैं। वे स्वार्थवश उन देवों में अनुरक्त होकर परमात्मा को भुला बैठते हैं।

'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्'—

बृह० उ० १।४।१०

'यह (देवता) अन्य है और मैं अन्य हूँ, इस प्रकार जान कर जो उसकी उपासना करता है वह नहीं जानता। जैसे पशु होता है वैसे ही वही देवताओं का पशु है।'

जिस प्रकार पशु मनुष्य के वश में रहकर अपनी स्वाधीनता खो देता है और उसके लिए ही उसके संकेत पर नाचता है, उसी प्रकार ईश्वर का विस्मरण हो जाने से मनुष्य देवताओं का पशु बन जाता है। वह अपने स्वरूप से भ्रष्ट होकर कामनाओं के विकट जाल में फँस जाता है और रेशम के कीड़े की तरह कभी मुक्त नहीं होता। अतएव यह सकाम देव-पूजा श्रेय-मार्ग नहीं है। ईश्वराधना ही परम श्रेय है जिससे आराधक मुक्ति-लाभ करता है।

सनातन धर्म का मुख्य अंग ईश्वरोपासना है। ईश्वरोपासक का निष्कलंक और पवित्र जीवन धर्म के लक्षणों से सुसम्पन्न आदर्श रूप होता है। धर्माचरण ही उसका प्रधान कर्म एवं परम कर्तव्य है। भोगैश्वर्य से पराङ्मुख होकर वह अपना सारा जीवन धर्म की वेदी पर बलिदान कर देता है, और अन्त में पाता है सद्गति, चिर शान्ति तथा शाश्वत सुख। यही उसकी जीवन भर की संचित कमाई है। भौतिक उन्नति मे सहायक धन-सम्पत्तियों को वह धूल के समान तुच्छ समझता हुआ निर्धन अवस्था में भी प्रसन्न रहता है। कैसा महान त्याग है इस उपासक का! धर्म के हेतु सर्वस्व स्वाहा कर देना उसके लिए कोई बड़ी बात नहीं है। हिन्दू संन्यासी इसका जीवन्त उदाहरण है।

यद्यपि हिन्दू-शास्त्रों में धर्म के अनेक लक्षण बताए गये हैं, परन्तु उनमें सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, सेवा, शौच और तप प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। अन्य धर्मों में भी इन्हीं सप्त लक्षणों का प्रधानतया प्रतिपादन किया गया है। यदि सभी लोग निष्कपट भाव से इनका आचरण करने लगें तो विश्व में सर्व धर्म समन्वय की भावना मूर्त रूप ले सकती है और सर्वत्र सुख-शान्ति का सुविस्तार हो सकता है अब धर्म के इन लक्षणों की विवेचना प्रारम्भ होती है।

सत्यः- सत्य मनुष्य का वास्तविकस्वरूप है। इसको धारण कर वह निर्भय, प्रसन्न और स्वरूप में स्थित रहता है। इसका उल्लंघन करने से ही उसे भय, चिन्ता, क्लेश और मृत्यु आदि आ घेरते हैं। जब वह यह सत्य भूल जाता है कि वह नित्यानन्द रूप अविनाशी आत्मा है, तो वह नश्वर देह के धर्मों के प्रति आसक्त होकर तथा मानव-आदर्श से च्युत होकर अधम संसारी बन जाता है। शरीर से सम्बन्धित क्षुद्र स्वार्थ के लिये वह अपनी आत्मा का हनन करता है जिससे उसके व्यक्तित्व की शोभा नष्ट हो जाती है। किं बहुना, वह मानसिक दुर्बलता, आत्मसंकीर्णता और हीनता का शिकार हो जाता है। जीवन भर शोक-सन्ताप से त्रस्त रहने के बावजूद मरणोपरान्त उसे अत्यन्त कष्टदायी लोक प्राप्त होते हैं। वेद में ऐसे लोकों को आसुरी लोक कहा गया है।

'असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।

तां स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥'
ईशा० उ० ३ ।

'आत्मा सम्बन्धी अज्ञानांधकार से आवृत्त होने के कारण वे लोक आसुरी नाम से प्रसिद्ध हैं। आत्मा का हनन करने वाले व्यक्ति मृत्यु के बाद वहीं जाते हैं।'

हृदयस्थ भाव को वाणी और कर्म में उतारना तथा नैतिक सिद्धान्तों का आचार सत्याचरण का व्यावहारिक रूप है। सत्याचरण से व्यक्ति की प्रतिभा मुखरित होती है, सहजानन्द की प्राप्ति होती है। भोग विषयों से प्राप्त होने वाला आनन्द, उस आनन्द का लघु आभास मात्र है। अज्ञान वश लोग इस विषयानन्द को ही सच्चा आनन्द समझ बैठते हैं और इन्द्रियों के दास बनकर येन केन प्रकारेण भोग्य पदार्थों के संग्रह में जुट जाते हैं। उन भोग्य वस्तुओं के संग्रह-संवर्द्धन के लिए उनको अनैतिक व्यापार एवं राग-द्वेष, ईर्ष्या-वैर और छल-कपट आदि अनेकों आसुरी प्रवृत्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। ऐसी प्रवृत्तियाँ विषयी पुरूष के मन में स्वभावतः जन्म ले लेती हैं और उसे सदा सताती रहती हैं। उस भोग-लिप्त मोहाच्छन्न प्राणि को इन कुप्रवृत्तियों से उत्पन्न दुःख का भान भी नहीं होता और त्रिताप-ग्रस्त होने पर भी वह उसे भुलाने का प्रयत्न करता है। जड़ पदार्थों का निरन्तर चिन्तन करते-करते वह जड़ और मूढ़ दोनों ही बन जाता है। यही है उसके जीवन की विडम्बना।

सत्य से जाग्रत् होता है विवेक — सद्सत्, धर्माधर्म,

आत्मानात्म और कर्तव्याकर्तव्य की पहचान। विषयों से विरक्ति और ईश्वर में अनुरक्ति उत्पन्न होती है सत्यधर्मी के अन्तःकरण में। वह धीरे-धीरे आत्म-तृप्ति का अनुभव करने लगता है और उसकी इच्छायें शान्त हो जाती हैं। यहीं से उसके मन में वैराग्य का उदय होता है। भौतिक आकर्षण उसको विचलित नहीं कर पाता, और वह इन्द्रियों की दासता से मुक्त होकर उन्हें नियन्त्रित कर लेता है। स्थितप्रज्ञ की अवस्था में आकर वह संयमी जीवन व्यतीत करता है और शनैः-शनैः उसे चिदानन्द की प्राप्ति हो जाती है। सत्य में अवस्थित आत्मा का दर्शन हो जाता है। महर्षि अंगिरा शौनक मुनि को आत्मदर्शन के साधन बताते हुए सत्य के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं।

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं
पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥' मु० उ० ३।१।५

'यह शुभ्र ज्योतिर्मय आत्मा जो शरीर के भीतर वास करता है सत्य...के द्वारा प्राप्त करने योग्य है। दोष-कल्मष वियुक्त यति जन हृदय में उसका दर्शन करते हैं।'

सत्याचरण रूपी महौषधि ग्रहण करने से चित्त की शुद्धि होती है। मनोविकार पूर्णतः झड़ जाते हैं। हृदय पवित्र और निर्मल हो जाता है। ऐसे हृदय में ही वह आत्मा जो अज्ञानावरण से आवृत है, अनावृत होकर प्रकाशित होने लगता है। 'यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष

आत्मा'। परन्तु यह औषधि ग्रहण करने में अत्यन्त कड़ुवी है, आसानी से हृदय में नहीं उतरती। इसमें त्याग का मीठा रस मिला देने से वह मीठी हो जायगी और सरलता पूर्वक ली जा सकेगी। स्वार्थ और लोभ वश मनुष्य सत्य का गला घोंट देते हैं और सदाचार के पथ से डिग जाते हैं। इससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों का अहित होता है। लोभ-मोह-जनित स्वार्थ के त्याग से ही सत्याचरण सम्भव है। अश्वमेध यज्ञ के श्रेष्ठ व्रत से भी यह व्रत महान है। महाभारत में इसकी महिमा का विशद वर्णन मिलता है। महात्मा युधिष्ठिर के प्रति पितामह भीष्म कहते हैं —

> 'अश्वमेध सहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
> अश्वमेध सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥
> नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
> स्थिति र्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत् ॥
> सत्यमेव नमस्येत् सत्यं हि परमा गतिः।
> सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्मसनातनम् ॥'
>
> शान्ति पर्व अ० १६२।

'यदि तुला एक पलड़े पर सहस्र अश्वमेध यज्ञों का फल और दूसरे पलड़े पर सत्य रख दिया जाय तो सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा। सत्य से श्रेष्ठ दूसरा कोई धर्म नहीं है और असत्य से निकृष्ट दूसरा कोई पाप नहीं है। वस्तुतः धर्म का आधार सत्य ही है। जीवन में सत्य का लोप न हो। सत्य ही परम गति है। सत्य ही धम, तप

और योग है। सत्य ही सनातन ब्रह्म है। उस सत्य को कोटि-कोटि नमस्कार है।'

भगवती श्रुति का आदेश है —'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' अर्थात् सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह मानव मात्र का कर्तव्य है। इसी में व्यक्ति, कुटुम्ब और समाज का कल्याण छिपा हुआ है। वास्तविक सुख - शान्ति जिसके लिए प्राणी आजीवन व्याकुल रहता है, भौतिक समृद्धि से नहीं बल्कि सत्याचरण से प्राप्त होती है। सत्याचरण में सत्यभाषण का विशिष्ट स्थान है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में सत्य को वाङ्मय तप कहा है।

'अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥'

गीता १७। १५

सत्यभाषण शीतल और प्रिय होना चाहिए। कटु और अप्रिय सत्य बोलने से चुप रहना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। कटु उत्तेजक और अप्रिय सत्य बोलने वाला पुरुष बहुधा अभिमानी होता है। अभिमान से अहंकार की वृद्धि होती है और अहंकार से अनर्थ बढ़ता है। यदि सत्य बोलने से किसी की आत्मा को ठेस पहुँचे अथवा पीड़ा हो तो ऐसा सत्य-भाषण ठीक नहीं। उदाहरणार्थ, किसी काने व्यक्ति को यदि काना कह दिया जाय तो यह सुनकर वह क्षुब्ध हो उठता है और झगड़ा करने को उद्यत हो जाता है। सत्य होते हुए भी यह एक अशोभनीय बात है। अतएव दूसरे के सम्मान और हित का ध्यान रखते हुए

उसके प्रति सत्य वाणी का प्रयोग करना चाहिए। सत्य वचन नम्रता पूर्वक बोलना चाहिए। विवेकशील, मित-भाषी एवं आत्मसंयमी पुरुष ही ऐसा सत्यवक्ता हो सकता है, दूसरा नहीं। इसीलिए सत्य को तप कहा है।

शास्त्र में भी कहा गया है–'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।'

श्रुति-वाक्यों में सत्य की गरिमा स्पष्ट रूप से झलकती है। तैत्तिरीय श्रुति का महावाक्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है. सत्य को ब्रह्म ही सिद्ध करता है। सत्यनिष्ठ और सदाचारी पुरुष व्यक्तित्व के उच्चतम स्तर में प्रतिष्ठित होकर अन्त काल में ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। वह लोक जहाँ निबिड़ शान्ति, मौनता और असीम आनन्द है। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' — जहाँ जाकर फिर संसार में नहीं लौटते।

'तेषामसौ विरजो ब्रह्म लोको न येषु जिह्मम् अनृतं न माया चेति'—प्र० उ० १।१६ 'जिसमें कुटिलता, असत्य और माया नहीं है उन्हीं को यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है।'

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

मु० उ० ३।१।६

'सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य के द्वारा देवयान मार्ग (ब्रह्मलोक-गमन का मार्ग) का विस्तार होता है, जिससे आप्तकाम ऋषिगण वहाँ पहुँच

जाते हैं जहाँ सत्य का परम निधान (परमार्थ तत्त्व) विद्यमान है।'

अन्य शास्त्रों में भी इसका प्रतिपादन किया गया है। सत्य की महत्ता सभी को स्वीकार्य है।

'सत्येन धार्यते पृथिवी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥'

'सत्य ने पृथ्वी को धारण किया है। सत्य से सूर्य तपता है; पवन चलता है। सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड सत्य में ही स्थित है। सत्य सर्वव्यापी तत्व है।'

'सत्यमेकं परंब्रह्म विदित्वैवं सुखी भवेत्।'

'एक मात्र परम् ब्रह्म परमात्मा ही सत्य है, ऐसा जान-कर जीव सुखी होता है।'

'सत्य प्रतिष्ठायां क्रिया फलाश्रयत्वम्'—योगसूत्र २।३६।

'सत्य प्रतिष्ठ योगी वाक्सिद्ध होता है। वह जिसको जो वरदान, शाप या आशीर्वाद दे देता है वह निष्फल नहीं जाता।'

'आत्मार्थे वा परार्थे वा पुत्रार्थे वापि मानवाः।
अनृतं ये न भाषन्ते ते बुधाः स्वर्गगामिनः॥'

'जो अपने, पराये अथवा पुत्र के लिये भी झूठ नहीं बोलते वे बुद्धिमान धीर पुरुष स्वर्गलोक को जाते हैं।'

शास्त्र का कैसा सुन्दर निर्णय है यह! जागृति क्या, स्वप्न में भी सत्य का परित्याग नहीं करना चाहिए। सत्य-पालन के लिए मृत्यु तक को आलिंगन करने वाले कई महापुरुषों की कथायें इतिहास में मिलती हैं। सत्यवादी

हरिश्चन्द्र के वैकुन्ठ धाम-गमन की कथा सर्वाधिक लोक-प्रसिद्ध है जिसे भारत का बच्चा-बच्चा जानता है ।

अतएव सत्य धर्म का स्रोत है, उसकी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति है। रामचरित मानस में गोस्वामी जी ने तो स्पष्ट ही कहा है ।
'धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना ।।'

सत्य और सत्संग-महिमा का बड़ा ही सरस और हृदय-स्पर्शी वर्णन मानस में कई स्थलों पर मिलता है। यथाः—

'पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता।
सतसंगति संसृति कर अन्ता ।।'
'बिनु सतसंग विवेक न होई।
राम कृपा बिनु सुलभ न सोई ।।'
'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग ।
तूल न ताहि सकल मिली, जो सुख लव सतसंग ।।'

सत् अर्थात् सत्य का संग ही सत्संग का भावात्मक रूप है। सद्विचार, सद्वचन और सत्कर्म जब जीवन के प्रधान अंग बन जाते हैं तभी सत्संग की सार्थकता सिद्ध होती है। ऐसा पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला प्राणी ही द्वन्द्व जाल से मुक्त होकर भगवन्मुख हो सकता है। वही सत्स्वरूप परमात्मा का निरन्तर संग करने में समर्थ हो सकता है। बहुधा देखा गया है कि सत्संग-गोष्ठी में जहाँ सद्वस्तु (ईश्वर) की चर्चा होती है, बैठे हुए श्रद्धालु व्यक्ति का मन वह अमृतमयी चर्चा श्रवण करते-करते कुछ काल के लिए सच्चिदानन्द में निमग्न हो जाता है। उस समय

उसे श्री भगवान का दिव्य स्पर्श प्राप्त होता है। आत्म-विभोर अवस्था में उसका रोम-रोम पुलकित हो उठता है। मनुष्य को और क्या चाहिए। यही तो मानव-जीवन का परम लाभ है। क्षणिक है तुच्छ भोग-बिषयों का संग, क्योंकि वे अन्तवान हैं और उनका परिणाम दुःखदाई है।

एक अन्य स्थल पर सत्य निष्ठा का महा प्रभाव बताते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

'जापर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिले न कछु संदेहू॥'

जिसकी जिस वस्तु अथवा व्यक्ति पर सत्य निष्ठा होती है वह उसे अवश्य प्राप्त होता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। सत्यप्रतिज्ञ पुरुष के लिए दुर्लभ भी सुलभ हो जाता है। सत्यनिष्ठा के ही प्रभाव से मनुष्य अति दुर्लभ तत्व भगवान को पा लेता है।

इसीलिए कहा है—

'साँच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाका हिरदय साँच है, ताका हिरदय आप॥'

सच्चे हृदय में साक्षात् भगवान नारायण का वास रहता है। यह है वह सत्य जिससे मनुष्य की बुद्धि में विवेक का उदय होता है। इतना ही नहीं वह भव-सिन्धु से पार हो जाता है और उसके आवागमन की शृंखला टूट जाती है। निमिष मात्र का सत्संग स्वर्ग और ब्रह्मलोक के सुख से भी महान है।

जो शाश्वत है, अविनाशी है, नित्य नवीन है, शुद्ध विज्ञानघन है, रक्षक है और षट्विकार रहित है, वही सत्य

है। इस सत्य में जो स्थित रहता है अथवा रहने का उद्योग करता है वह वास्तव में शान्ति का अधिकारी है और सच्चा सुखी है। वही उस अनिर्वचनीय आनन्द का लाभ कर सकता है। जगत् का मूल होने के कारण वह सत्य शाश्वत है। चूँकि जगत् को सनातन एवं अव्यय कहा है अतः वह सत्य अविनाशी है। परिणाम-शून्य होने के कारण वह नित्य नवीन है। उदाहरणार्थ, गणित के सार्वभौम सिद्धान्त आविष्कृत होने के पूर्व जैसे थे वैसे ही आविष्कार के पश्चात् रहे और अब भी वे वैसे ही हैं। योग का सिद्धान्त ( १+१=२ ) पता नहीं कब आविष्कृत हुआ था, पर आज भी वह बदला नहीं, त्यक्त अथवा जीर्ण नहीं हुआ। वह ज्यों का त्यों है और सदा नूतन रूप से विज्ञान के क्षेत्र में प्रयुक्त होता है। सत्य खरा, संसर्ग विहीन और निर्लेप होने के कारण शुद्ध विज्ञानघन है। जैसे पृथ्वीतल पर टेढ़ा बना हुआ भवन कभी सुरक्षित नहीं है, प्रबल वायु का पहला झोंका ही उसे ध्वस्त कर सकता है, क्योंकि उसका निर्माण भूमिति विज्ञान के नियत सिद्धान्तों पर नहीं हुआ है; वैसे ही असत्य के आधार पर गठित मानव जीवन की सुरक्षा असम्भव है। निश्चय ही ऐसे जीव का पतन हो जायगा। जब कि पार्थिव वस्तुओं के निर्माण में सुनिश्चित सुरक्षा और स्थायी आश्रय के लिए सत्य अपरिहार्य है, वस्तु-सौन्दर्य के स्थायित्व की रक्षा के लिए जिसका त्याग नहीं किया जा सकता, तो मानव-चरित्र के निर्माण में जिस पर व्यक्ति

का उन्नयन और उसके व्यक्तित्व का विकास निर्भर है उस सत्य का उल्लंघन कैसे किया जा सकता है। परन्तु फिर भी स्वभाववश मनुष्य अपनी भावी परिस्थिति के प्रति अचेत रहकर तथा उस सत्य को नगण्य समझ कर नित्य प्रति उसका उल्लंघन करता है। इसी से विपत्ति और दुःख की सृष्टि होती है।

जिस प्रकार इन्द्रिय-सुख के वशीभूत हो मनुष्य स्वादिष्ट आहार को प्राकृतिक नियमों का तोड़कर गले तक चढ़ा लेता है और परिणाम स्वरूप अजीर्ण-मन्दाग्नि आदि रोगों में फँसकर दुःख भोगता है, उसी प्रकार आचरण-व्यवहार में लोभ-मोह वश सत्य को ठुकरा कर वह अनैतिकता को प्रश्रय देता है और फल-रूप में पाता है घोर अधःपतन। इससे सिद्ध होता है कि सत्य ही एक मात्र रक्षक है। सत्यनिष्ठ व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर से सर्वथा परे रहकर ही सुख मानता है, अतः सत्य षट्विकार रहित है।

सत्यनिष्ठ प्राणी का जीवन विशिष्ट गुण सम्पन्न होता है। उसके प्रत्येक क्रिया कलाप में नैतिकता की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। उसके कर्मों में अध्यवसाय, तन्मयता और दृढ़ निश्चय का विलक्षण योग मिलता है। उसकी आत्मशक्ति प्रबल और पुरुषार्थ अजेय होता है, जो साधारण मनुष्यों के लिए प्रशंसा का विषय बन जाता है। वह इतना बज्र संकल्प होता है कि दुनिया की कोई भी ताकत उसे कर्तव्य-पथ से नहीं डिगा सकती। वह सभी

आपत्ति - विपत्तियों का निर्भीकता पूर्वक सामना करने में सक्षम होता है। वह दूसरों के लिए आदर्श पुरुष बन जाता है और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से उनमें सद्भाव एवं सद्गुणों का संचार करता है। उसके तेज की प्रकाश-किरणें सर्वत्र फैली रहती हैं और उसके इर्द-गिर्द का वातावरण पवित्र और प्रेरक बना रहता है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—'यदि तुम चौदह वर्षों तक सत्य का पूर्णतः पालन कर लेते हो तो तुममें वह दैवी शक्ति आ जायेगी कि तुम जो कुछ कहोगे, लोग उसी पर दृढ़ विश्वास कर लेंगे। सत्य असत्य से अनन्त गुना प्रभावशाली है। मेरा जीवन सत्य के लिए है। सत्य और मिथ्या का कभी मेल नहीं होगा। किं बहुना, यदि समग्र विश्व भी मेरे विरोध में खड़ा हो जाय तो भी अन्त में विजय सत्य की ही होगी।

यह है सत्य की गरिमा। वास्तविक सुख, शान्ति और आनन्द के लिए एक मात्र सत्य ही आचरण करने योग्य है। सत्यदेवो भव।

[ क्रमशः ]

---

अज्ञान मन की रात्रि है, लेकिन वह रात्रि जिसमें न तो चाँद है और न तारे।

—कन्फ्यूशन

# महारानी दमयंती

सन्तोष कुमार झा

नारीत्व की पराकाष्ठा सतीत्व में और उसका पूर्णत्व मातृत्व में है। महारानी दमयंती इन दोनों अर्थों में नारीत्व के आदर्श की जीवन्त विग्रह थीं, नारी के सर्वाङ्गीण चरित्रका संपूर्ण विकास थीं।

विदर्भ में किसी समय भीम नाम के राजा राज्य करते थे। बहुत दिनों तक उनके कोई संतान न हुई। राजा ने संतान लाभ की कामना से दमन नामक एक ऋषि की बड़ी सेवा की ऋषि के आशीर्वाद से राजा के चार संताने हुईं। तीन पुत्र और एक पुत्री। यह पुत्री ही दमयंती थी।

विदर्भ के वैभव की तरह दमयंती का सौंदर्य भी अद्वितीय था। रूपवती राजकुमारी गुण और विद्या से भी संपन्न थी। उसके रूप की सुरभि आसपास तो प्रसारित हो ही रही थी, साथ ही व्यापारियों, यात्रियों आदि के द्वारा सुदूर देशों में भी फैलने लगी थी। देश-देशांतर के राजे-युवराज दमयंती को पाने का स्वप्न देखने लगे थे।

निषध देश में उन्हीं दिनों महराज बीरसेन के पुत्र नल राज्य करते थे। नल भी पुरुषों में अद्वितीय थे। शौर्य, शील, विद्वत्ता आदि गुण मानों उनके व्यक्तित्व में कूट कूट कर भरे

थे। सौंदर्य में उनके सम्मुख गंधर्व भी लज्जित थे। निषधनरेश नल की सुख्याति भी उन दिनों देशांतर व्यापी हो रही थी। दमयंती ने भी राजा नल के पराक्रम और सौंदर्य की कीर्ति सुनी। उसने मन ही मन महाराज नल का वरण कर लिया।

इधर राजा नल ने भी दमयंती के रूप और गुण की प्रशंसा सुनी। उनका भी मन दमंयती के प्रति आकृष्ट हो उठा और उन्होंने भी मन ही मन उसे पाने का निश्चय कर लिया।

दमयंती कुछ उदास सी रहने लगी। सखियों ने उसके मनकी व्यथा को ताड़ लिया और यह बात उन्होंने राजमाता से कही। राजमाता ने महाराज से परामर्श कर राजकुमारी दमयंती के स्वयंबर के आयोजन का निश्चय किया। देश-देशांतर के सभी योग्य राजाओं महाराजाओं को स्वयंबर का निमंत्रण भेजा गया। यथा समय वे सभी राजे-महराजे ठाट-बाट से विदर्भ की राजधानीं कुण्डिनपुर पहुँचे।

इधर देवताओं को भी देवर्षि नारद के द्वारा दमयंती के स्वयंबर का समाचार मिला। उन्होंने भी दमयंती की स्वयंबर सभा में उपस्थित होकर अपनी भाग्य-परीक्षा का निश्चय किया। अभी देवगण मार्ग में ही थे कि उनकी भेंट निषधराज नल से हो गई। नल का सौंदर्य देखकर देवगण मुग्ध हो गए। राजा नल को रोक कर देवताओं ने उनका परिचय पूछा। परिचय जानकर देवताओं ने सत्य-निष्ठ नल को वचन-बद्ध कर लिया। और जब नल वचन-बद्ध हो गए तब देवताओं ने उनसे कहा, "निषधराज!

तुम विदर्भकुमारी दमयंती के पास हमारे दूत बन कर जाओ तथा उनसे कहो कि वे स्वयंबर में हम देवों में से किसी एक का वरण करें।

नल ने सनम्र निवेदन किया, "देवगण! मैं स्वयं भी वैदर्भी को प्राप्त करने की ही कामना से स्वयंवर-सभा में जा रहा हूँ। तब भला मैं कैसे इसी कार्य के लिये आप लोगों का दूत बन सकता हूँ?"

किन्तु देवताओं ने उन्हें स्मरण दिलाया, "निषधराज! तुम वचन-बद्ध हो। बचन-भंग करने पर तुम्हारी सत्य-निष्ठा भंग हो जायेगी।"

सत्यनिष्ठ नल ने सत्य की रक्षा का ही निश्चय किया। उन्होंने देवताओं की आज्ञा शिरोधार्य की और दूत बन कर दमयंती को देवताओंका संदेश देने चल पड़े। देवताओं के वरदानस्वरूप उन्हें महल के भीतर प्रविष्ट होने में कोई असुविधा न हुई। वहाँ पहुँचकर नल ने राजकुमारी दमयंती को अपना परिचय दिया। नल का परिचय पाकर, अपनी कल्पना के सम्राट् को प्रत्यक्ष देखकर विदर्भकुमारी प्रेम और आनन्द से खिल उठी। किंतु साथ ही स्त्रियोचित लज्जा ने उसके अंगों को मानो सिकोड़ सा दिया। दूसरे ही क्षण सकुचाई दमयंती लज्जा से पुष्पित पलाश की तरह लाल हो उठी।

दमयंती की रूप राशि से स्तब्ध और मुग्ध नल ने कातर किंतु दृढ़ स्वर में कहा, "देवि! मैं आपके समक्ष देवों के दूत के रूप में उपस्थित हुआ हूँ। इन्द्र, अग्नि, मरुत् आदि

देवताओं की यह इच्छा है कि आप स्वयंवर-सभा में उन्हीं में से किसी एक का वरण करें। कल्याणी! इसी में आपका कल्याण भी है; क्योंकि पृथ्वी का कोई भी मनुष्य वैभव, सौंदर्य और संपदा आदि में देवताओं की समानता नहीं कर सकता।" भय मिश्रित स्वर में नल ने आगे कहा, "और यदि देवगण रुष्ट हो जायँ तो अनिष्ट की भी तो संभावना है।"

दमयंती के लिए परीक्षा का यह प्रथम अवसर था। एक ओर देवताओं का स्वर्गीय सुख-वैभव था और दूसरी ओर निषधराज नल थे जिन्हें बिना देखे ही मनही मन उसने अपना सब कुछ समर्पित कर दिया था। क्या वह देवताओं में से किसी एक का वरण कर ले? फिर, उसके प्रियतम महाराज नल ही तो देवताओं का संदेश लेकर आए हैं। तब वह क्यों न उस संदेश को स्वीकार करले? नहीं! नहीं!! नल के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुष या देव का चिंतन!!! यह कदापि नहीं हो सकता। यह तो नारी की मर्यादा को भंग करना होगा। क्या सतीत्व मात्र शारीरिक अवस्था है? क्या केवल शरीर की शुद्धि और पवित्रता ही सतीत्व है? नहीं, वह तो सतीत्व का परिणाम है – उसका लक्षण है। सतीत्व तो नारी के मन की अवस्था है। मन से अपने प्रियतम के अतिरिक्त किसी भी अन्य पुरुष का चिंतन न करना ही सतीत्व है। इसी में पत्नीत्व की पूर्णता है। यही पत्नी का आदर्श है, उसका धर्म और उसका कर्त्तव्य है!

विदर्भकुमारी की यह मानसिक झंझा अधिक देर न टिक सकी। उसने क्षण मात्र में अपना कर्त्तव्य स्थिर कर लिया। निश्चय की दृढ़ता उसके मुख पर आलोकित हो उठी। उसने अपने आप से कहा – "मैं अपने सुहाग की डोर निषधराज नल से ही बाँधूँगी।"

नल की ओर सजल नेत्रों से देखते हुए उसने कहा, "प्राणनाथ! मैंने अंतःकरण से आपको अपना पति मान लिया है। यह जीवन अब आपकी ही सेवा में अर्पित होगा। मैं किसी भी देवता को पति रूप में स्वीकार नहीं कर सकती। रही देवताओं से अनिष्ट की आशंका। आप उसकी चिंता न करें। मैं स्वयं देवताओं से अपने सतीत्व की रक्षा की प्रार्थना करूँगी। स्वयंबर में उनके सामने ही आपका वरण कर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करूँगी।"

शुभ मुहूर्त में स्वयंबर-सभा का प्रारम्भ हुआ। उपस्थित राजे-महाराजे तथा दर्शकगण बड़ी सजधज से सभा में बैठे थे। भाटों और चारणों ने एक-एक कर राजाओं और राजकुमारों का परिचय दमयंती को दिया। वैदर्भी के भावों से यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा था कि उसे उस सब परिचय से कोई रुचि नहीं है। राजकुमारी ने किसी की ओर कटाक्ष भी न दिया। एक स्थान पर आकर वह सहसा रुक गई। उसके मुख पर भय, व्याकुलता और आश्चर्य के मिश्रित भाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहे थे।

यह क्या? यहाँ तो एक के स्थान पर पाँच-पाँच नल बैठे थे। वह भ्रमित हो उठी। वास्तविक नल कौन है?

यह कैसे जाने? क्या पुनः उसकी परीक्षा हो रही है? क्या उसका निश्चय डिग जायेगा? उसका हृदय काँप उठा। उसने मन ही मन कातर भाव से प्रार्थना की—"हे देवगण मेरी रक्षा करो! मेरे सतीत्व की रक्षा करो। मेरे धर्म की रक्षा करो। मैंने सभी देवों को साक्षी रखकर निषधराज नल को ही अपना पति चुना है। मुझे शक्ति दो कि मैं वास्तविक नल को पहचान सकूँ।"

अबला की करुण प्रार्थना से देवताओं का हृदय पसीज उठा। उन्होंने अपनी माया समेट ली। दमयंती ने देखा कि चार देवों के मध्य में उसके हृदयदेवता नल बैठे हैं। विह्वल होकर उसने निषधराज नल के गले में जयमाल डाल दी। शंखध्वनि होने लगी। देवताओं ने दुन्दुभी बजाकर नल-दमयंती का अभिनंदन किया।

नल तथा दमयंती परस्पर एक दूसरे को पाकर धन्य थे। उनके जीवन में आनंद का सागर हिलोरें ले रहा था। दिन क्षणों की भाँति और वर्ष दिनों की भाँति बीतने लगे। यथासमय उनके दो संतानें हुईं—एक पुत्र और एक पुत्री।

सतत सावधानी, निरंतर जागरूकता तथा अहर्निश प्रयास सदाचार और चरित्र के प्रहरी हैं। इन प्रहरियों का क्षणमात्र का प्रमाद हमारी वर्षों की साधना को मिट्टी में मिला देता है। हमारे चरित्र रूपी पात्र का छोटा सा छिद्र वर्षों की साधना से संचित साधना-रस से हमें रिक्त कर देता है।

राजा नल सद्गुणी थे। सदाचारी थे। सत्यनिष्ठ थे।

किंतु उनमें एक दुर्गुण, एक व्यसन ऐसा था, जिसने उन्हें राजा से रंक बना दिया। उनका राज्य छिन गया, संपत्ति छिन गई, अधिकार चला गया। यहाँ तक कि दुख और निराशा से पीड़ित उन्होंने अपनी प्राणप्रिया पत्नी को भी त्याग दिया।

यह दुर्गुण था जुए का। राजा नल के एक भाई था। उसका नाम था पुष्कर। कुटिल और स्वार्थी। उस दुष्ट से राजा की यह दुर्बलता छिपी नहीं थी। वह जानता था, नल के दृढ़ चरित्ररूपी कवच का मर्मस्थल कहाँ है और राजा की दृढ़ता कहाँ पराभूत हो सकती है। एक दिन पुष्कर ने राजा नल को जुआ खेलने के लिए ललकारा।

मनुष्य के चरित्र की दुर्बलताएँ अवसर और सुविधा के अभाव में दबी पड़ी रहती हैं और मनुष्य सोचने लगता है कि वह उन दुर्बलताओं से मुक्त है। किन्तु जब कभी परीक्षा का अवसर आता है, प्रलोभन आते हैं, सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, तब संयम का बाँध टूट जाता है। हमारी प्रसुप्त वासनाएँ, दुर्बलताएँ शतमुखी होकर प्रबल वेग से फूट पड़ती हैं। हमारे चरित्र का दुर्ग ढह जाता है और इसका बोध मनुष्य को तब होता है जब उसका सर्वस्व लुट चुका होता है।

नल के हृदय में छिपी जुए की वासना को प्रकट होने का अवसर मिल गया। पुष्कर की ललकारने संयम के जर्जर प्राचीर को ढहा दिया। नल जुए का दाँव लगाने को प्रस्तुत हो गए। खेल महीनों चलता रहा। राजा एक एक

कर हाथी, घोड़े, गायें, धन-संपत्ति सभी हारते गए, यहाँ तक कि उन्होंने अपना राजपाट सभी कुछ जुए को बलि-वेदी पर चढ़ा दिया।

जहाँ एक ओर साध्वी पत्नी का परामर्श जीवन की पराजय को विजय में परिवर्तित कर देता है, वहीं दूसरी ओर उसकी अवहेलना जीवन की सफलता को विफलता की करुण कहानी भी बना सकती है। पतिव्रता दमयंती ने राजा नल को जुए से विरत करने की अनेक चेष्टा की किंतु नल विरत न हुए।

विदुषी दमयती ने भावी आपत्ति की आशंका को भाँप लिया था। उन्होंने सारथी को बुलाकर राजकुमार इन्द्रसेन और राजकुमारी इन्द्रसेना को उसके हाथों सौंप दिया और रूँधे गले से सारथी से प्रार्थना की कि मेरे बच्चों को मेरे पिता के घर कुण्डिनपुर पहुँचा दो।

सारथी वार्ष्णेय ने सजल नेत्रों से अपनी स्वामिनी को प्रणाम किया और कुमार और कुमारी को लेकर विदर्भदेश की राजधानी की ओर चल पड़ा। बच्चों को उनके ननिहाल में छोड़कर वह जीविका की खोज में अन्यत्र चला गया।

राजा नल जुए में अपना सर्वस्व गँवा बैठे। उनके कुटिल भाई ने उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया और मुनादी पिटवा दी कि जो कोई राजा नल को आश्रय देगा या उनकी सहायता करेगा, उसे प्राण दण्ड दिया जायेगा।

निष्ठुर नियति का चक्र निर्विघ्न चलता रहता है। होनी को भला कौन रोक सकता है? कल के सम्राट् नल

और सम्राज्ञी दमयंती आज राजपथ पर भटकने वाले निरीह भिखारी थे। पृथ्वीपति महाराज नल को आज कहीं सिर छिपाने को भी स्थान नहीं था।

दमयंती के जीवन की दूसरी कठिन परीक्षा की घड़ी तब आई जब महाराज नल ने कोमलांगिनी दमयंती से कहा, "प्रिये! तुम अपने पिता के घर चली जाओ। मुझे अपने भाग्य पर छोड़ दो। तुम वन का कष्ट नहीं सह सकोगी।"

इस समय नल और दमयंती के अनशन के तीन दिन बीत चुके थे। वन की भयानक पीड़ाओं से दमयंती परिचित हो चुकी थी। एक ओर था पितृगृह का राज-वैभव और दूसरी ओर वन के असह्य कष्ट, भीषण यंत्रणाएँ!

वन की यंत्रणाओं का स्मरण कर एक बार दमयंती का मन सिहर उठा। उसने राजा नल को प्रेरित करने का प्रयास किया—"प्राणनाथ! आप भी चले चलिए मेरे पिता के घर। वे आपका स्वागत करेंगे। हमारे बच्चे वहाँ हैं ही। हम सब वहाँ सुख पूर्वक रह सकेंगे।"

नल किसी भी तरह राज़ी न हुए। स्वयं वन में रह-कर उन्होंने दमयंती से अपने पिता के घर चले जाने का आग्रह किया।

पतिव्रता दमयंती को वन की यंत्रणाएँ न डिगा सकीं। पितृगृह के राज वैभव उसे आकर्षित न कर सके। उसने नम्रता पूर्वक राजा से विनय की—"महाराज! आपकी सेवा और सान्निध्य ही मेरा स्वर्ग है। आप वनों में मारे मारे फिरते रहें और मैं पिता के घर राज-सुख भोगूँ?

नहीं ! नहीं !! यह मुझसे कदापि न होगा। मैं तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। आप ऐसी बातें मुझसे न कहें।"

यह कहते कहते दमयंती का गला रुँध गया, आँखोंसे आँसुओं की धारा बह चली। नल और अधिक आग्रह न कर सके।

हम सभी जानते हैं कि राजा नल किस प्रकार विपत्तियों से घबड़ाकर, सोती दमयंती को वन में अकेली छोड़कर किसी अज्ञात स्थान की ओर चले गए। विपत्ति की मारी दमयंती ने नल को ढूँढने का प्रयास किया। किन्तु वह नल को उस गहन वन में न ढूँढ सकी। वह उस निर्जन वन में भटक रही थी कि अकस्मात् एक विकराल अजगर के मुख में जा फँसी। उसने प्राण रक्षा के लिए पुनः अपने निर्मोही पति को पुकारा। उसकी करुण पुकार एक व्याध के कानों में पड़ी जो उस वन में आखेट के लिए आया था। वह दौड़ा हुआ उस स्थान की ओर आया जहाँ से वह कातर स्वर आ रहा था। उसने देखा कि एक विकराल अजगर एक तरुणी सुन्दरी को निगलना चाहता है। तुरंत ही अजगरको मार कर व्याध ने दमयंतीकी प्राण रक्षा की।

दमयंती के सौंदर्य पर वह क्रूर व्याध मुग्ध हो गया। उसने दमयंती के प्राणों की रक्षा तो अवश्य की, किंतु वह उसका सतीत्व नष्ट करना चाहता था। अबला सबला हो उठी। सती का सतीत्व-तेज जाग उठा। उसने उस व्याध को शाप देते हुए कहा, "रे नराधम ! यदि मैंने स्वप्न में भी राजा नल के अतिरिक्त और किसी पुरुष का चिंतन न किया हो तो तू तत्काल निष्प्राण हो जा।"

सती दमयंती के मुख से इन शब्दों के निकलते ही वह क्रूर व्याध निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

दमयंती किसी तरह भटकती हुई व्यापारियों के साथ चेदि देश जा पहुँची। राजधानी में वह राजपथ पर विक्षिप्त की भाँति भटक रही थी। अचानक राजमाता की दृष्टि उस पर पड़ी। एक सुन्दर युवती को इस प्रकार भटकती देख उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने धायको भेज कर उस विक्षिप्त सी युवती को महल के भीतर बुलवाया और स्नेह-पूर्वक उसका परिचय पूछकर उसके दुख का कारण जानना चाहा। दमयंती ने केवल इतना बताया कि किसी दुख के कारण उसके पति उसे बन में अकेली सोती छोड़कर कहीं चले गए हैं। वह उनके वियोग से दुखी है तथा उन्हें ही ढूँढ़ने के लिए यहाँ वहाँ भटक रही है।

राजमाता को इस दुखिया की दशा पर बड़ी दया आई। उन्होंने दमयंती से कहा, "बेटी! तुम यहीं मेरे पास रह जाओ। यहीं रहकर अपने पति की खोज करने का प्रयत्न करो।"

दमयंती ने राजमाता का आग्रह सुन कर कहा, "माँ, मैं आपकी सेवा में रहने को प्रस्तुत हूँ। किंतु मेरी कुछ शर्तें हैं। यदि आप कृपा पूर्वक उन्हें पूरी करने का आश्वासन दें तो मैं सहर्ष आपके पास रहूँगी।"

राजमाता ने दमयंती को उत्साहित करते हुए कहा, "हाँ, हाँ, बेटी! कहो तुम्हारी क्या शर्तें हैं?"

दमयंती ने निवेदन किया, "मैं किसी का जूठन नहीं

खाऊँगी। किसी के पाँव नहीं धोऊँगी। पर-पुरुष से चर्चा नहीं करूँगी तथा जो भी पुरुष मुझ पर कुदृष्टि डालेगा उसे आप कठोर दण्ड देंगी।"

दमयंती की इन सदाचार पूर्ण शर्तों से राजमाता बड़ी प्रसन्न हुईं। उन्होंने हँसते हुए दमयंती को इन शर्तों को पूर्ण करने का बचन दिया। दमयंती चेदिराज की कन्या की सखी के रूप में वहाँ रहने लगी।

इधर राजा नल दमयंती को छोड़कर भटकते-भटकते राजा ऋतुपर्ण की राजधानी अयोध्या पहुँचे। वन में राजा नल को एक सर्प ने डस लिया था जिससे उनका वर्ण श्याम हो गया था। वे कुरूप से हो गए थे। इससे एक बड़ा लाभ यह हुआ कि उन्हें कोई पहिचान न सकता था। राजा ऋतुपर्ण के दरबार में नल बाहुक नामक सारथी के रूप में पहुँचे। राजा ने उन्हें अपने सारथी के पद पर नियुक्त कर लिया।

विदर्भराज भीम को भी नल और अपनी पुत्री दमयंती के राज्यच्युत होकर वन की ओर चले जाने का दुखद समाचार मिला। उन्होंने कई विद्वान् एवं कुशल ब्राह्मणों को बहुत सा धन देकर नल और दमयंती की खोज में भेजा। उन ब्राह्मणों में से एक चेदि देश भी पहुँचा। घूमता हुआ वह ब्राह्मण राजमहल में भी आया। वहाँ अकस्मात् उसकी दृष्टि विदर्भकुमारी दमयंती पर पड़ी। वह ब्राह्मण दमयंती के भाई का मित्र था। अतः उसने तुरंत ही वैदर्भी को पहचान लिया। उसे पहचान कर वह उसके पास गया और उससे कहा, "राजकुमारी! मैं कुण्डिनपुर निवासी ब्राह्मण हूँ तथा

तुम्हारे भाई का मित्र हूँ। मैं तुम्हें तथा महाराज नल को ढूँढ़ने के लिए ही निकला हूँ। कुण्डिनपुर में तुम्हारे दोनों बच्चे स्वस्थ हैं। किंतु तुम्हारी विपत्ति का समाचार पाकर तुम्हारे माता-पिता अत्यंत दुखी हैं।"

इसी समय चेदि देश की राजमाता उस स्थान पर आ गईं जहाँ दमयंती ब्राह्मण से चर्चा कर रही थी। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि दमयंती कैसे एक अपरिचित पुरुष से बातें कर रही है। ब्राह्मण ने राजमाता के मुख के भावों को पढ़ लिया और उनकी शंका को दूर करते हुए उन्हें अपना और विदर्भकुमारी दमयंती का परिचय दिया।

दमयंती का वास्तविक परिचय पाकर राजमाता ने उसे गले से लगा लिया और रोने लगीं। दमयंती उनकी बहिनकी पुत्री थी। वे दमयंती की मौसी थीं। दमयंती की सखी भी अपनी मौसेरी बहन को पाकर बड़ी प्रसन्न हुई।

कुछ दिनों पश्चात् दमयंती मौसी से आज्ञा लेकर अपने पिता के घर आ गई। किंतु उसका दुख दूर न हुआ। अभी तक उसके पति नल का कहीं कोई समाचार न मिल सका था।

दमयंती के आने के पश्चात् विदर्भराज ने पुनः कई विद्वानों एवं अनुभवी ब्राह्मणों को बुलवाया और नल को खोजने का कार्य उन्हें सौंपा। खोज के लिये जाते हुए ब्राह्मणों से दमयंती ने कहा, "विप्रगण! जहाँ कहीं भी आप मनुष्यों की भीड़ देखें, वहाँ ये वाक्य कहें—'हे निष्ठुर प्रियतम, तुम अपनी प्रिय पत्नी को सोती छोड़

कर उसका आधा वस्त्र फाड़कर कहाँ चले गए ? तुमने उसे जिस अवस्था में छोड़ा था वह आज भी उसी अवस्था में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।'

"इन वाक्यों को सुनकर जो भी पुरुष उसका उत्तर दे, उसे आप अच्छी तरह देख लें। उसके संबंध में सभी बातें ज्ञात कर लें और आकर मुझे सूचित करें।"

नल की खोज में गए हुए ब्राह्मणों में से एक राजा ऋतुपर्ण की राजधानी अयोध्या भी पहुँचा। वहाँ राजसभा में उसने वही वाक्य कहे। सभासदों में से तो किसी ने भी उसका उत्तर न दिया, किन्तु राजा के बाहुक नामक सारथी ने उसका उत्तर ब्राह्मण को दिया। ब्राह्मण विदर्भ लौट आया और उसने सारा समाचार दमयंती को सुनाया। उत्तर सुनकर दमयंती ने अनुमान लगाया कि हो न हो, बाहुक ही राजा नल होंगे।

अपनी माता से परामर्श कर दमयंती ने पुनः एक दूत अयोध्या भेजा। अयोध्या पहुँचकर दूत ने ऋतुपर्ण को समाचार दिया कि विदर्भकुमारी के लिये पुनः स्वयंबर रचा गया है। स्वयंबर कल प्रातःकाल सूर्योदय के पश्चात् होगा। यदि आप जा सकें तो अवश्य पधारें। राजा ऋतुपर्ण दमयंती के स्वयंवर में जाना चाहते थे। किंतु एक ही दिन में अयोध्या से विदर्भ की राजधानी कुण्डिनपुर कैसे पहुँचा जाय ? राजा ने बाहुक से अपनी इच्छा प्रकट की। उसने ऋतुपर्ण को आश्वस्त किया कि वह उन्हें एक ही दिन में विदर्भ की राजधानी पहुँचा देगा। हुआ भी वही।

बाहुक ने इतनी कुशलता से रथ हाँका कि राजा एक ही दिन में अयोध्या से कुण्डिनपुर पहुँच गए।

दमयंती यह भलीभाँति जानती थी कि महाराज नल के अतिरिक्त अन्य कोई भी व्यक्ति रथ हाँककर अयोध्या से कुण्डिनपुर की दूरी एक ही दिन में नहीं तय कर सकता। नल की यह परीक्षा लेने के लिए ही उन्होंने अपनी माता से परामर्श कर अपने द्वितीय स्वयंबर का समाचार अयोध्या भेजा था। वास्तव में वे दूसरा स्वयंबर नहीं करना चाहती थीं। यह तो राजा नल को ढूँढ़ने का एक उपाय मात्र था।

दमयंती ने और भी कई प्रकार से बाहुक रूपी नल की परीक्षा ली। अपने बच्चों को उनके समीप भेजा और अंत में इस निष्कर्ष पर आई कि बाहुक राज नल ही हैं।

शील ही दमयंती का धन था। परीक्षाओं द्वारा तो उसने अवश्य ही यह जान लिया कि नल ही बाहुक के रूप में सारथी का कार्य कर रहे हैं। किंतु रूप के संबंध में अभी भी शंका रह गई थी। इस बार स्वयं दमयंती ने इस बात की परीक्षा करने का निश्चय किया। उसने अपनी माता से यह बात कही और उनके द्वारा पिता से अनुमति प्राप्त कर बाहुक को राजमहल के भीतर बुलवाया। वहाँ दमयंती पहले से ही उपस्थित थी। दुखिया दमयंती को देखते ही बाहुक की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। इधर दमयंती की भी आँखों में अश्रु-प्रवाह रुकता न था। बाहुक को लक्ष्य कर दमयंती ने

कहा – "बाहुक ! क्या तुमने पहले किसी ऐसे धर्मज्ञ पुरुष को देखा है, जो अपनी सोई पत्नी को वन में अकेली निस्सहाय छोड़कर चला गया हो ? न जाने मैंने महाराज नल का क्या अपराध किया था कि उन्होंने मुझ अबला को विजन वन में अकेली छोड़ दिया। स्वयंबर के समय स्वेच्छा से देवताओं को छोड़कर मैंने उनका वरण किया था। अग्नि तथा देवताओं को साक्षी रख कर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ा था। उनका वह सत्य कहाँ चला गया ?"

इतना कहकर दमयंती फूट-फूट कर रोने लगी। उसका करुण विलाप और मर्मस्पर्शी शब्द राजा नल न सह सके। उनका हृदय भी द्रवित हो उठा। उन्हें दमयंती को अपना परिचय देना ही पड़ा। लम्बे चार वर्षों पश्चात् अपने खोये हुए पति को पाकर दमयंती को कितना आनंद हुआ होगा यह तो दूसरी दमयंती ही बता सकती है। हम तो कल्पना से केवल उसका अनुमान मात्र कर सकते हैं।

नल-दमयंती का यह आख्यान अत्यन्त प्राचीन है, किंतु इस आख्यान के माध्यम से दी गई शिक्षा चिर नवीन है। दाम्पत्य जीवन के सुख की आधारशिला वह निष्ठा है जो दमयंती को नल के प्रति थी; वह विश्वास है जो नल को दमयंती के प्रति था।

———

# भारतीय संस्कृति

डा० त्रेतानाथ तिवारी

हमारी मातृभूमि की संस्कृति संसार की अनमोल निधि है एवं हम भारतीयों का दायित्व है कि हम उसे जीवित, जागृत एवं सुरक्षित रखें। हमें गाँधीजी के प्रताप से बाह्य स्वराज तो प्राप्त हो गया किन्तु विदेशी संस्कृति की मानसिक दासता से हमने मुक्ति नहीं पाई। यही नहीं, बाह्य स्वातंत्र्य की छत्रछाया में यह मानसिक दासता और भी पल्लवित एवं उच्छृंखल होती जा रही है। हमें अपनी संस्कृति के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिये यह भलीभाँति समझना होगा कि वह क्या है, उसका मूल्य क्या है एवं उसका रहस्य क्या है।

हमारी संस्कृति का मूल मंत्र है – "हम जियें और सबको जीने दें"। इतना ही नहीं, उसका आदर्श है–"सब कुशल-पूर्वक जीवन व्यतीत करें, सब नीरोग रहें, सबका कल्याण हो एवं किसी को दुःख प्राप्त न हो।" दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति है जिसका आज सर्वत्र बोलबाला है। यह दूसरों को असंस्कृत बताकर उनपर अपना वर्चस्व स्थापित करती है। वैज्ञानिक चकाचौंध को दिखाकर कहती है, 'देखो, तुम्हारे पास ये सब वस्तुएँ कहाँ हैं? तुम बहुत पिछड़े हुए हो।' किंतु जो लोग इन वस्तुओं को अपनाते हैं

वे शीघ्र ही उन्हीं शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक व्याधियों से पीड़ित होने लग जाते हैं जिनसे पाश्चात्य सभ्यता वाले पीड़ित हैं एवं जिनका उनके पास कोई निदान नहीं। जितनी ही प्रगति आप इस मार्ग में करेंगे, उतने ही अशांति के ग्रास बनते जायेंगे। पाश्चात्य संस्कृति का मूल-मंत्र है सतत संघर्ष - स्वार्थ के लिये, इन्द्रिय जन्य सुख को लक्ष्य बनाकर। इससे प्राप्त होने वाला फल अशांत एवं संघर्ष-मय असंतुष्ट जीवन ही है। इसके 'जयघोष' (नारे) हैं— अस्तित्व मात्र के लिये संघर्ष (Struggle for existence), केवल योग्यतम का जीवित बच रहना (Survival of the fittest) एवं दुर्बलों तथा जड़ सृष्टि का आचूषण Exploitation) इसके दृष्टिकोण में संघर्ष ही जीवन है।

दूसरी ओर, हम संघर्ष को मानते हुए भी उसे अनि-वार्य नहीं मानते। हम संघर्ष को स्नेह के द्वारा मृदु बनाना चाहते हैं, ताकि सृष्टिचक्र की सरल, सुंदर और स्निग्ध प्रगति हो; वह एक तेल दिये हुए यंत्र की नाईं सुचारु रूपसे बिना संघर्षण के चलती रहे; उसका कोई अंग अनावश्यक रूप से घिसने, छीजने या टूटने न पाये। हमने संघष और कष्ट का मूल, मानव स्वभाव में निहित काम, क्रोध, लोभ आदि सहजात रिपुओं में पाया हैं। इनके दमन की अनिवार्य आवश्यकता हमने अनुभव की है और इसी को अपना विशेष आदर्श रखा है ताकि हम दूसरों की सुविधाओं और आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए जीवन यापन करें, संग्रह करके त्यागपूर्वक उसका उपभोग करें। इसके

विपरीत पाश्चात्य सभ्यता वाले नये नये नारों के शब्द-जाल में भूलकर अपने को लोभ आदि रिपुओं के जाल में ही अधिकाधिक जकड़ा हुआ पाते हैं जिससे वे छूट नहीं पाते।

संघर्ष अनिवार्य है। यह प्रकृति में भी दृष्टिगोचर है। किंतु सृष्टि की सर्वोत्तम कृति होने के नाते मानव का कर्त्तव्य इसकी तीव्रता को कम करना है। इसकी कटुता से बचने का मार्ग हमें अपनाना है। संघर्ष के लाभ एवं हानियों को विचारकर हमें नितांत स्वार्थमय व्यवहार से दूर रहना होगा। अन्यथा हम लोभ और पतन के गर्त में पहुँच जायेंगे। हमारी संस्कृति संघर्ष में दुर्बलों की रक्षा का पाठ पढ़ाती है और बलवान् होने पर भी अहम्मन्य एवं लोभ से अपने को बचाते हुए आत्मविनाश से बचने का आदर्श दिखाती है। यही कारण है कि अतीत काल में हमारी संस्कृति का प्रसार दूरस्थ मेक्सिको से पश्चिम एशिया तक था। हम विजेता की तलवार लेकर आगे नहीं बढ़ते थे, हम लोभ की आँखों से नये नये क्षेत्र नहीं देखते थे, वरन् स्नेह और त्याग का जामा पहनकर जाते थे और अपनी शांति और आनंद का विकिरण एवं वितरण करते थे। इसी कारण हमारा खुले हृदय से सर्वत्र स्वागत होता था। हमारे व्यापारी भी तलवार और लोभ की सहायता से आगे नहीं बढ़ते थे, न ही हम नये नये देशों को पीड़ित कर विजित करते थे। हमारी संस्कृति को सभी अपनाना चाहते थे। राजनैतिक एवं आर्थिक विजय हमारा आदर्श

न था। त्याग पूर्वक भोग द्वारा सुख-प्राप्ति और सुख-प्रदान ही हमारा आदर्श जयघोष था । भगवान् मनु ने कहा है कि भारतीय अपनी संस्कृति की रक्षा करें एवं "संसार में सर्वत्र सब मानव भारतीय संस्कृति के आदर्श से अपना अपना चरित्र निर्माण करें ।"

'आचूषण' के घोष के विपरीत हमारे यहाँ यज्ञचक्र के पालन की विधि ( आज्ञा ) दी गई है। जहाँ से जितना लो, दूसरे रूपमें उसे वापस करो ताकि आदान-प्रदान द्वारा सब पनपते रहें। सृष्टि-प्रक्रिया का चक्र कहीं अटक कर आपत्तियाँ उत्पन्न न करे। सृष्टि का कार्य सर्वत्र ही अभ्यंतर निहित यज्ञचक्र के मूलमंत्र के पालन से सुचारुरूपेण चलता है। समुद्र से वाष्प रूपमें पानी सूर्य द्वारा ग्रहण किया जाता है फिर वही वर्षा रूपमें वापस आकर कृषिका पोषण करता है। वर्षा के मेघों को वन के वृक्ष रोककर जल रूपमें परिवर्तित करते हैं। इससे पुनः वनस्पतियों, अन्न एवं वृक्षों की वृद्धि होती है और वर्षा की पुनरेव प्राप्ति निश्चित रहती है। प्राणियों द्वारा प्राणप्रद वायु का ग्रहण हो कार्बन द्विओषिद् के रूप में उत्सर्ग होता है। वही पुनः वनस्पति-जगत् द्वारा गृहीत हो प्राणप्रद वायु के रूपमें प्राणियों को प्राप्त होता है। हमारे शरीर में रक्त, प्राणप्रद वायु ग्रहण कर सब अंगों का पोषण करता है। पुनः वही, दूषित पदार्थ वापस लेकर फुफ्फुसमें शुद्ध होने आता है। कृषि में अन्न प्राप्त कर घास, छिलके गोबर आदि पदार्थ उर्वरक के रूपमें पुनः खेतों में डाल दिये जाते हैं जिनसे पुनः अन्न

की उत्पत्ति होती है। समाज के भिन्न-भिन्न अंग भी जब तक एक दूसरे के प्रति आदान प्रदान करते रहते हैं तब तक समाज सुचारु रूपसे चलता है। यही यज्ञ-चक्र यदि स्वार्थवश किसी ने अवरुद्ध कर दिया, अपना भाग प्रदान कर यदि उसमें सहयोग नहीं दिया, तो उसके दुष्परिणाम स्वरूप सम्यक् व्यवस्था छिन्न भिन्न हो बहुतों को कष्ट उठाना पड़ता है। उपनिषदोंकी आज्ञा है कि उपभोग किया जावे किंतु त्याग पूर्वक। हमारे पूर्वज ऋषियों ने समाज के सभी प्रश्नों का शांत और निःस्वार्थ चित्र से निराकरण किया है और उचित व्यवस्था प्रदान की है जिससे समाज सुचारु रूपसे चलता रहे। इसी समाजधारक व्यवस्था की संज्ञा धर्म है।

हमारी संस्कृति में संयुक्त परिवार का प्रति-पादन किया गया है। आजकल सहकारिता की धूम मची है। संयुक्त परिवार सहकारिता कीइकाई का अति उत्तम उदाहरण है। कहीं से भी आप त्रस्त, पीड़ित अथवा श्रमित होकर आइये, आपको विश्वास रहता है कि मेरा सब प्रबंध घरमें उत्तम रीति से हो जायेगा। वहाँ एक के लिये सभी प्रयत्न कर रहे हैं और सबके लिये एक। बालक अपने योग्य, युवा अपनेयोग्यऔर बूढ़े अपनेयोग्यकामकरते हैंऔर अपना अपना पोषण प्राप्त करते हैं। पाश्चात्य समाज में बच्चों को अलग ही रखना पसंद किया जाता है तथा बूढ़ों को(Infirmary) 'अशक्तगृह' मेंभरती करा दिया जाता है ताकि युवा अपना जीवन स्वच्छन्दता में व्यतीत कर सकें। किंतु बूढ़े अशक्त

गृहों में अपने एवं दूसरों के लिये भार रूपही रहते हैं तथा मानसिक अशान्ति का वहाँ साम्राज्य छाया रहता है। बच्चों की देखरेख के लिये पारिश्रमिक देकर अन्य व्यक्ति समय समय पर बुलाये जाते हैं। यह पद्धति खर्चीली होती है और इसमें स्नेह का अभाव रहता है। समाज में तलाक का प्राचुर्य होने से विलासिता और उच्छृङ्खलता की वृद्धि हो जाती है एवं अविवाहिता कुमारिकाओं तथा परित्यक्ताओं का प्रश्न भीषण रूपमें उपस्थित हो जाता है। चिकित्सा जगत् में भी अन्य अनेकों रोग तो दबा दिये जाते हैं किंतु स्वार्थमय जीवन की व्यग्रता के परिणाम स्वरूप मानसिक अशांति और उन्माद अथवा अर्ध-उन्माद से पीड़ित रोगियों की संख्या बढ़ जाती है। इस प्रकार दृष्टिगोचर होता है कि सामाजिक प्रश्नों का निराकरण पाश्चात्य लोग भली भाँति नहीं कर पाये और उनके अनेकों उपाय मानों एक अंधो गली में समाज को लेजाकर खड़ा कर देते हैं। अस्त्र सज्जा में पाश्चात्यों ने इतनी उन्नति करली है कि संसार का सर्वनाश ही अब उनके समक्ष उपस्थित हो रहा है तथा एक दूसरे से अत्यंत भयभीत हो वे जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

उत्तम संस्कृति हमने अपने पूर्वजों की परम्परा से प्राप्त की है। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम इसकी रक्षा करें। पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों संस्कृतियों के विभिन्न अंगों के गुणदोषों का अध्ययन कर जो जो अपने यहाँ उत्तम हो उसकी सुरक्षा करें और जो कुछ पाश्चात्यों में उत्तम हो उसे

भी सावधानी से अपनावें जिससे अपने यहाँ उसमें निहित बुराइयाँ प्रवेश न कर पावें।

यदि हम आधुनिक 'घोषों' (नारों) के प्रवाह में बहकर अपनी संस्कृति की अवहेलना एवं उपेक्षा करेंगे तो हमारे समाज की असीम हानि होगी। नये 'घोषों' के फेर में न पड़कर प्राचीन सर्वमान्य सत्य, अहिंसा, न्याय, स्वार्थ-त्याग, विश्वबंधुत्व आदि के सिद्धान्तों को अपनाने से हमें ऐहिक एवं पारमार्थिक सभी प्रकार की उन्नति एवं प्रगति उपलब्ध होगी। इन सिद्धान्तों का निश्चित, स्पष्ट और सीधा अर्थ है जिसे हमारे सभी देशवासी सरलता पूर्वक समझकर जीवन में उतार सकते हैं। दूसरी ओर, नये नये 'घोषों' के अर्थ को तोड़-मरोड़कर स्वार्थी तत्त्व समाज को पतनोन्मुख और संकटग्रस्त बना रहे हैं। यहाँ जिसे हम समाजवाद कहते हैं, अमेरिका के निवासियों के लिये वह पूँजीवाद ही है। प्रजातंत्र के नामपर कितना अत्याचार फैल रहा है। सभी अपनी अपनी गद्दी बनाये रखने के फेर में रहते हैं और शासकवर्ग एक स्वार्थ-अभिभूत पीड़कों का गण हो गया है। भ्रष्टाचार सर्वत्र प्रविष्ट हो गया है। त्रुटियों के लिये कोई भी व्यक्ति उत्तरदायी नहीं जान पड़ता। प्रत्यक्ष में अन्यायपूर्ण उपायों का अवलंबन कर असीम व्यय से स्वार्थी तत्त्व शासन में पहुँच जाते हैं एवं वहाँ हर प्रकार से अपने अपने स्वार्थ साधन में लग जाते हैं।

हमारी दासता के इतिहास में हमारे मानस को पहले पराजित किया गया है। मेकाले ने एक ऐसी नीति

आविष्कृत कर शिक्षण संस्थाओंको संचालित किया जिसके फलस्वरुप हम केवल रंग रूप में हिंदुस्तानी बाकी रहे किंतु मन, विचारधारा और संस्कृति में अंग्रेजों के पूर्ण अनुगामी बन गये। हमारा पिछड़ापन हमारे मन में पक्की तौर से बिठा दिया गया। हम समझने लगे कि हमारे विजेता हम से सभी प्रकार श्रेष्ठ है और हम प्रत्येक विषय में श्रद्धा और आदर पूर्वक उनका अनुकरण करने लगे। इसी दृष्टि से हमारा इतिहास भी विचारपूर्वक विकृत और दूषित किया गया। हमारे वीरों और देशभक्तों को कायर और बलवाई चित्रित किया गया। इसका प्रमाण अनेकों स्थानों में टॉड कृत "राजस्थान का इतिहास" पढ़ने से मिलता है। टॉड ने यहाँ तक कहा है कि अंग्रेज लोग जर्मनों से एक बार पराजित हो शीघ्र उनके पुजारी बन कर शांत हो गये एवं आज भी इँग्लैंड में जर्मन रक्तधारियों का शासन है किंतु भारत अनेकों बार पराजित होता हुआ भी सिर उठा कर अपनी स्वतंत्रता के लिये युद्ध करता ही रहा और आज तक मरा नहीं है।

किंतु आज स्वातंत्र्य प्राप्ति के पश्चात् हमारी मानसिक दासता और भी तीव्र दिखाई देती है। नयी उम्र के भारतीयों में पाश्चात्यों का अनुकरण करने की होड़ सी लगी है। अपनी संस्कृति के प्रति उनमें किंचित भी स्वाभिमान नहीं। अपनी संस्कृति की अच्छाइयों का उन्होंने कोई अध्ययन नहीं किया। शिक्षा-पद्धति वही पुरानी चली आ

रही है जिससे दासता की विचारधारा ही हमारे मानस में दृढ़मूल होती जा रही है ।

ब्रिटिश विभाजन नीति के फलस्वरूप बहुसंख्यकों को हीन दिखाकर अल्प संख्यकों को बढ़ावा दिया गया। आज भी उसी नीति के परिणाम स्वरूप हम हिंदुस्थान में अपने को हिन्दू कहने में लज्जा अनुभव करते हैं।

सामाजिक रचना में भी अनेक सुधार जबरदस्ती किये गये हैं किंतु सुधारकों ने अपनी संस्कृति का अध्ययन भी नहीं किया । जो भी है उसे हेय मानकर पाश्चात्यों की पद्धति अपनाने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक बात में हम पश्चात्यों का मुँह देखते हैं । वहाँ वालों ने जैसा किया, वैसाही करना चाहते हैं । इसके कारण देश पर अनंत ऋण का भार लदता जा रहा है । दूसरों की नकल करते करते हम अपनी संस्कृति का नाश कर रहे हैं; पर मुखापेक्षिता बढ़ती जा रही है एवं मानसिक दौर्बल्य आता जा रहा है। भारतीय संस्कृति के मूल सत्यों को अपना कर यदि युग के अनुकूल नये सुधार किये जाये तो सरलता पूर्वक जनता उन्हें अपनायेगी। पर खेद है, इस पर ध्यान ही नहीं दिया जाता ।

———

प्रश्न — क्या पुनर्जन्म की बातें सत्य हैं ? विज्ञान के आधार पर पुनर्जन्म का मूल्यांकन किस प्रकार किया जा सकता है ?

—सोमेश्वर पटेल, बड़ौदा

उत्तर — हाँ, पुनर्जन्म की बातें सत्य हैं। हम आये दिन ऐसी घटनाओं के सम्बन्ध में पढ़ा करते हैं जिनमें बच्चे अपने पिछले जन्म की बातें बता देते हैं। जाँच करने पर ये बातें अधिकांशतः ठीक निकली हैं। इस विषय पर विशेष गवेषणा करने के लिए जयपुर में एक पैरासाइकालोजी का विभाग खुला है। इस विभाग के द्वारा वैज्ञानिक आधार पर पुनर्जन्म की घटनाओं को समझने का प्रयास किया जा रहा है। आप विभाग के डायरेक्टर से सम्पर्क साधें। वहाँ से प्रकाशित पत्रिका को पढ़ें।

❁ ❁ ❁

प्रश्न — आध्यात्मिक उन्नति के लिये क्या अविवाहित रहना जरूरी है ? — श्रीनिवास, जबलपुर

उत्तर — ब्रह्मचर्य के पालन से आध्यात्मिक उन्नति में सहायता मिलती है।

प्रश्न — भारत के धर्मग्रन्थों ने नारी की इतनी निन्दा क्यों की है ? क्या आप भी ऐसे कथनों से सहमत हैं कि नारी नर्क की द्वार है ?

— पुष्पलता आर्य, इन्दौर

उत्तर — नहीं, हम ऐसे कथनों से सहमत नहीं हैं नारी शक्ति है. जगदम्बा का स्वरूप है। उसकी प्रसन्नता व्यक्ति, परिवार और समाज का निर्माण करती है। उसकी आह समाज की जड़ों को सुखा देती है। जिन धर्मग्रन्थों में नारी की निन्दा है, वे दुराग्रह से पीड़ित हैं। ऐसे ही ग्रन्थों और विचारों ने हिन्दू धर्म को खोखला बना दिया है।

प्रश्न — क्या आप पाप-पुण्य की पहिचान बता सकते हैं ?

— रमेश गोयल, दिल्ली

उत्तर — इस प्रश्न पर विवेक-ज्योति के वर्ष ३, अंक १ में विशद चर्चा हुई है। आप कृपया उसे देख लें।

———

# आश्रम-समाचार

## ( १ मार्च से ३१ मई तक )

### साप्ताहिक सत्संग—

रविवासरीय सत्संग के अन्तर्गत स्वामी आत्मानन्द ने ५, १२ और १९ मार्च को "नारदभक्तिसूत्र" पर ८ वाँ, ९ वाँ, और १० वाँ प्रवचन किया और इस प्रकार १० प्रवचनों में भक्ति के इस श्रेष्ठ ग्रन्थ पर अपनी चर्चा पूरी की। इसके पश्चात् ग्रीष्म के लिए सत्संग के बन्द रहने की घोषणा की गयी। आगामी २ जुलाई से पुनः यह सत्संग प्रारम्भ होगा।

### आश्रम में अन्य कार्यक्रम—

१३ मार्च को भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की १३२ वीं जयन्ती आश्रम में सोल्लास मनायी गयी।

७ मई को पुष्टिमार्गीय आचार्य गोस्वामी मथुरेश्वर महाराज का प्रवचन आश्रम के सत्संग भवन में हुआ।

### स्वामी आत्मानन्द के अन्यत्र कार्यक्रम—

२ मार्च को मध्यप्रदेश के पंचायत एवं समाज कल्याण विभाग द्वारा आयोजित कलापथक शिविर का उद्घाटन स्वामी आत्मानन्द ने किया। संभागीय पंचायत एवं समाज सेवा अधिकारी श्री सेंगर

ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। स्वामीजी ने बताया कि जनजागरण में कलापथकों का महत्त्वपूर्ण रोल है। वे ग्रामीण समाज को उनकी ही भाषा के माध्यम से ऐसे प्रेरणापूर्ण सन्देश दे सकते हैं जो दूसरों से प्राप्त नहीं हो सकते।

८ मार्च को स्वामीजी सारनी थरमल प्रोजेक्ट में थे। वहाँ क्लब में एक प्रश्नोत्तरी सभा का आयोजन किया गया था जहाँ उपस्थित जनसमुदाय ने स्वामीजी से प्रश्न पूछे। प्रश्न पूछने वालों में कई विदेशी महिलाएँ और पुरुष थे जो उस थरमल प्रोजेक्ट में काम करने के लिए अमेरिका की सरकार के द्वारा भेजे गये थे। प्रश्न धर्म एवं अध्यात्म से सम्बन्धित थे। स्वामीजी ने सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर प्रदान किया।

१४, १५ और १६ मार्च स्वामीजी छपरा में थे। वहाँ के नागरिकों के आमंत्रण पर उन्होंने आध्यात्मिक सम्मेलन में क्रमशः 'भक्ति का सहजयोग', 'गीता का कर्मयोग' तथा विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' इन विषयों पर अत्यन्त भावपूर्ण, वैज्ञानिक और प्रभावी भाषण दिये।

२३ मार्च की सुबह स्वामीजी बम्बई में थे। लोनावला में 'ज्ञान साधना शिविर' में भाग लेनेवाले साधकों के प्रति उन्होंने शुभकामनाएँ व्यक्त कीं। २४ से लेकर ३० मार्च तक वे लोनावला में रहे और ज्ञान साधना शिविर में भिन्न भिन्न आध्यात्मिक विषयों को लेकर उन्होंने चर्चा की। आध्यात्म के व्यावहारिक पक्ष पर उन्होंने विशेष बल दिया।

९ अप्रैल को भिलाई नगर में भगवान श्रीरामकृष्ण देवकी १३२वीं जयन्ती मनायी गयी। इस जयन्ती समारोह में रविशंकर विश्व-विद्यालय के कुलपति डा० बाबूरामजी सक्सेना ने अध्यक्षता की। अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के साधनामय जीवन की चर्चा की और कहा कि वे भ्रमित मानवता के लिए आलोकस्तम्भ हैं।

स्वामी आत्मानन्द ने प्रमुख वक्ता के रूप में भगवान श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव काल की वैज्ञानिक विवेचना की और उनके आगमन के महत्त्व को प्रस्तुत किया। स्वामीजी ने यह भी बताया कि हम श्रीरामकृष्ण देव के जीवन और सन्देश से कैसे लाभ उठा सकते हैं।

१० अप्रैल को रायपुर के मेडिकल कालेज की ओर से आयोजित सभा में स्वामीजी ने 'विज्ञान के युग में धर्म का भविष्य' इस विषय पर युक्तिपूर्ण और सरस व्याख्यान दिया। कालेज के डीन डा० बेनावरी ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की और उन्होंने स्वामीजी के विद्वत्ता-पूर्ण भाषण की भूरि भूरि प्रशंसा की।

१३ और १४ अप्रैल को स्वामीजी कटनी में थे। स्थानीय प्रेम रामायण समाज ने उन्हें आमंत्रित किया था। इस अवसर पर स्वामीजी ने 'तुलसी के राम' और 'तुलसी की साधना' पर दो भाव-ग्राही भाषण दिये। 'तुलसी के राम' में उन्होंने राम के स्वरूप पर विवेचना की और 'तुलसी की साधना' में मानस में वर्णित साधन-प्रणाली का विशद विवेचन किया।

१९ अप्रैल को इन्दौर में श्रीरामकृष्ण आश्रम का शिलान्यास समारोह था। रामकृष्ण मिशन, नई दिल्ली के प्रमुख स्वामी स्वाहानन्द जी के द्वारा यह कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। उनकी अध्यक्षता में स्वामी आत्मानन्द तथा रामकृष्ण आश्रम, नागपुर के स्वामी व्योमानन्द ने भगवान श्रीरामकृष्ण देव एवं उनकी लीला-सहचरी माँ सारदा के पावन जीवन-प्रसंगों पर चर्चा की।

२० अप्रैल को इन्दौर के गीताभवन में स्वामी आत्मानन्द ने प्रेमतत्त्व का मार्मिक विवेचन किया। उसी दिन सन्ध्या आश्रम के प्रांगण में एक परिसंवाद हुआ, जिसका विषय था–'गीता से मैंने क्या सीखा है'। कार्यक्रम के अध्यक्ष थे विक्रम विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष डा० एस०एन०एल०श्रीवास्तव। स्वामी स्वाहानन्द, स्वामी व्योमानन्द तथा स्वामी आत्मानन्द ने विषय का उचित प्रतिपादन किया।

२१ अप्रैल को पुनः एक परिसंवाद हुआ जिसका विषय था 'वेदान्त का शाश्वत सन्देश'। प्रसिद्ध वैद्यराज श्रीरामनारायण जी शास्त्री ने कार्यक्रम की अध्यक्षता की। उपर्युक्त तीनों संन्यासियों ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया और बतलाया कि हमारे दिन-प्रतिदिन के जीवन में वेदान्त किस प्रकार उतर सकता है। इन दोनों दिनों में श्रोताओं की भारी भीड़ प्रवचनों को सुनने के लिए उपस्थित रहती थी।

२३ से २८ अप्रैल तक सनातन धर्म सभा, भड़ोच के आमंत्रण पर स्वामीजी भड़ोच में थे। वहाँ ६ दिन उन्होंने ईशावास्योपनिषद् पर अत्यन्त सारगर्भित प्रवचन दिये।

७ मई को हिम्मत स्टील फाउंड्री, कुम्हारी के कर्मचारियों को स्वामी जी ने 'कर्मयोग' विषय पर सम्बोधित किया। ११ मई को रायपुर के कच्छगुर्जर समाज द्वारा आयोजित डाकोर क्षेत्र निवासी स्वामी विदेहानन्द तीर्थ के प्रवचन-कार्यक्रम की उन्होंने अध्यक्षता की।

२८, २९ और ३० मई को मध्यप्रदेश योग विद्यालय, रायगढ़ द्वारा आमंत्रित होकर स्वामीजी रायगढ़ गये जहाँ उक्त तीनों दिन उन्होंने ईशावास्योपनिषद् पर बड़ा ही मार्मिक प्रवचन किया। लोग इन प्रवचनों में बड़ी संख्या में उपस्थित हुए।

---

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये।
भावो हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्॥

—देवता न काठ में है, न पत्थर में है, न मिट्टी की मूर्ति में है। निश्चय है कि देवता भाव में विद्यमान है, इसलिये भाव ही सब कारण है।

—चाणक्य

श्री विशेश्वर प्रेस; बुलानाला, वाराणसी।